सूचना।

पाठकलोग जानते ही हैं कि हमारे परमपूज्य शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरिमहाराजने कुछ महीने पहले इस पुस्तक की रचना की थी और थोडेही रोज़ हुए कि मैंने इसकी प्रथमावृत्ति को प्रसिद्ध किया था। साथहीसाथ मुझे यह कथन करते हुए अत्यन्त हर्ष उत्पन्न होता है कि हमारे हिन्दीभाषा के प्रेमियोंने अत्यन्त श्लाघनीय रीतिसे इस पुस्तक का सत्कार किया है इतनाही नहीं बल्कि बड़ाबजार गजट, सद्धर्मप्रचारक, जैन तथा जैनगजट वगैरह साप्ताहिक, भारतधर्मनेता, जैनमित्र और सत्संग आदिपाक्षिक और सरस्वती, सुधानिधि, गढवाली, ब्राह्मणसर्वस्व, दिगम्बरजैन, सनातनधर्म तथा जैन-हितैषी आदि मासिकपत्रकारोंने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, इसी कारण से प्रथमावृत्ति थोड़ेही दिनों में समाप्त भी हो गई अतएव मुझे दूसरी आवृत्ति के प्रसिद्ध करने का अवसर मिला है।

इस दूसरी आवृत्ति में मैंने ग्रन्थकर्त्ता महाराज श्रीविजयधर्मसूरिजी का संक्षिप्तजीवनचरित्र और उनका सुन्दर फोटो भी दिया है आशा है कि हमारे पाठकलोग इस पुस्तक से पुनः पुनः अवश्य लाभ उठावेंगे।

अंग्रेजीकोठी
बनारस सिटी.

सन्तों का सेवक
हर्षचन्द्र भूराभाई.

प्रस्तावना ।

यद्यपि यह ग्रन्थ ही प्रस्तावना रूप होने से इससे अतिरिक्त प्रस्तावना की
ई आवश्यकता नहीं थी तथापि यह नियम है कि 'कारण के विना कार्य
'उत्पत्ति नहीं होती' इस लिये इस ग्रन्थ के बनाने में भी कोई न
ई कारण अवश्य ही होना चाहिये, अतएव इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने
उद्देश्य से अगर दो वचन कहे भी जायँ तो अस्थान पर अथवा अप्रस्तुत
हीं गिने जायँगे।

कथन करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि इस नये जमाने में जिस
से से अनेक प्रकारके प्राचीन, अर्वाचीन, मूलग्रन्थ, भाषान्तर, प्रबन्ध, निबन्ध,
खेल और भजन कीर्तनादिकी किताबें प्रकट होती हैं, उसी भांति
ह 'अहिंसादिग्दर्शन' ग्रन्थ भी प्रकट हुआ है। मुझे इस ग्रन्थ के
ानेका कारण दिखलाते हुए सखेद कहना पड़ता है कि धर्मशास्त्रों में
अहिंसा परमो धर्मः' 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' इत्यादि महर्षियों के
वचनों को दृष्टिगत करते हुए और समझाते हुए भी हमारे कितनेही भारतवासी,
न्दु-नामधारी मांसाहार से बचे नहीं हैं, ऐसे और भी लोग जो धर्मशास्त्रको
हीं जानकर केवल जिह्वेन्द्रिय की लालच से मांसाहार करते हैं उनलोगों पर
दयाभाव होने से इस ग्रन्थ के लिखनेका विचार हुआ और उपरोक्त हेतुसे
शास्त्र, स्वानुभव, और लोक व्यवहार को लक्ष्य में रख कर यह निबन्ध
लिखा गया है।

इस निबन्ध में, पाठकों को रागद्वेष न होने पावे ऐसी जहांतक बनी
सावधानता रक्खी गई है और शास्त्र के अनभिज्ञ लोगों को लौकिक दृष्टान्त-
ियाँ देकर सहज में समझाने की कोशिश भी की गई है जिससे कि वे
ग अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण न करें।

प्रसङ्गानुरोध से मुझे कहना पड़ता है कि गुजरातदेशको छोड़कर
ब हिन्दुस्थान, बङ्गाल, मगध और मिथिलादिदेशों में मैं जब विचरते
था तब उन उन देशों में प्रचलित घोर हिंसाको देखकर मेरे अन्तःकरण में
जो विचार उत्पन्न हुए उनका दिग्दर्शन भी अगर यहां पर कराया जाय तो

एक दूसरा ही निबन्ध तैयार हो जाय, किन्तु उन दूसरी बातों को सब धर्मवालों की माता 'अहिंसा' महादेवी की आराधना करनेवाले के निमित्त से हिंसा करने वाले, देवियों के सन्मुख उनके पुत्रों की क्रूरात्माओं पर उत्पन्न हुई मातृदया के कारण, 'यावद्बुद्धिबलोदयम्' नियमानुसार मैंने 'अहिंसादिग्दर्शन' नामक ग्रन्थ लिखकर सबके सन्मुख उपस्थित किया है।

इस निबन्ध में केवल जैन शास्त्रों के ही नहीं बल्कि विशेष महाभारत, पुराण, मनुस्मृति और गीता आदि हिन्दुधर्मशास्त्रों ग्रन्थों के ही प्रमाण देकर 'अहिंसा' की पुष्टि की गई है।

प्रसङ्गानुसार मुझे यह कहते हुए सन्तोष होता है कि इस ग्रन्थ दाक को इसकी दूसरी आवृत्ति प्रसिद्ध करने का बहुत ही शीघ्र अवसर इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का यही एक अनुपम उदाहरण है इस दूसरी आवृत्ति में कुछ अंश बढ़ा भी दिया है कि जिस से विशेष लाभ मिले।

अन्त में मेरा यह कल्याणभाव संपूर्ण जगत् के समस्त प्रदेशों में। इतनाही कहकर मैं इस छोटीसी प्रस्तावना को समाप्त करता हूँ।

ग्रन्थकर्ता।

शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरिजी का संक्षिप्त जीवन।
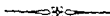
काशी की जैन-यशोविजय पाठशाला की कई पुस्तकों की समालोचना सरस्वती में निकल चुकी है। उससे पाठकों को इस पाठशाला के नाम से जरूर ही परिचय होगया होगा। आज हम इस पाठशाला के अध्यक्ष आचार्य श्रीविजयधर्मसूरि का संक्षिप्त चरित पाठकों को सुनाते हैं। ये ऐसे महात्मा हैं कि भारत के अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् इनका आदर करते हैं और इन पर बड़ी ही श्रद्धा रखते हैं। आपका चरित, कुछ समय हुआ, बँगला की वाणी नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। उसी से प्राप्त सामग्री से यह लेख प्रस्तुत हुआ है।

काठियावाड़ में महुवा नामक एक गाँव है। वहीं वीसाश्रीमाली जातीय वैश्य के घर संवत् १९२४ में जैनगुरु श्रीविजयधर्मजी का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम सेठ रामचन्द्र और माता का नाम कमलादेवी था। दीक्षाग्रहण करने के पहले इनका नाम मूलचन्द था। ७ वर्ष की उम्र में ये पाठशाला में भरती किये गये, किन्तु वहां इन्होंने कुछ भी नहीं सीखा। इनके पिता ने जब देखा कि ये लिखने पढ़ने में मन नहीं लगाते तब वे इन्हें अपने घर का काम काज सिखाने लगे। कुछ दिन बाद इनके हृदय में विद्याभिरुचि का अङ्कुर उग आया। अतएव काम से छुट्टी मिलने पर ये परिश्रमपूर्वक गुजराती भाषा सीखने लगे। इनके पिता ने थोड़ी ही उम्र में इन्हें अपने व्यवसाय में निपुण कर दिया। परन्तु पन्द्रहवें वर्ष में सत्संग दोष से इन्हें सट्टा और जुआ खेलने की बुरी आदत पड़ गई। बीसवें वर्ष में एकाएक इनका स्वभाव बदला। ये सोचने लगे कि इस तुच्छ सांसारिक सुख के लिए जितना परिश्रम करता हूँ-जितना समय नष्ट करता हूँ-उसका शतांश भी यदि आध्यात्मिक

[illegible] संसार हो। यह ख़याल आते ही इनका मन सांसारिक मायाजाल से हट गया। इन्होंने शीघ्र ही गृह त्याग करके सद्गुरु की खोज में घूमना शुरू किया। सौभाग्यवश इन्हें एक सद्गुरु मिल भी गये। अपने शुभ गुणों के कारण ये शीघ्र ही गुरु के कृपापात्र बन गये। इनके गुरु ने इन्हें जैन साधु होने के लिए माता पिता की आज्ञा लेने को घर भेजा। इनकी पुत्रवत्सला माता तो अपने पुत्र का साधु हो जाना पसन्द नहीं करती थी, किन्तु दूरदर्शी पिता ने देखा कि पुत्र का मन संसार से एकदम विरक्त हो गया है। इसमें यदि मैं बाधा दूँगा भी तो यह न मानेगा। अतएव उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक इन्हें साधु होने की आज्ञा दे दी। अब मूलचन्द के दीक्षाग्रहण करने के मार्ग में कोई रुकावट न रही। इन्होंने ज्येष्ठ कृष्ण पञ्चमी, संवत् १९४३ को, भावनगर के विख्यात महात्मा शान्तमूर्ति श्रीवृद्धिचन्द्रजी महाराज से दीक्षा ग्रहण की। तब से इनका नाम 'धर्मविजय' हुआ।

जैन मत में साधुओं के जीवन का प्रधान उद्देश आत्मोन्नति और जगत् का उपकार करना है। जैनी साधु धर्म की शिक्षा देकर संसार का उपकार करते हैं। धर्मोपदेश के लिए विशेष शास्त्रज्ञान होना ज़रूरी है। पूरे शास्त्र-ज्ञान के विना सर्वसाधारण पर उपदेश का अच्छा असर नहीं पड़ता। इस कारण ये महात्मा भी दीक्षा ग्रहण करने के बाद गुरु सेवा में तत्पर रह कर उनसे धर्मशिक्षा ग्रहण करने लगे। ये गुरु-सेवा में अधिक मन लगाते थे। पर उस समय इन्हें संस्कृत-भाषा का ज्ञान नहीं था। इससे इनकी धर्मशिक्षा शीघ्र सम्पन्न नहीं हुई। केवल प्रतिक्रमण* अर्थात् पञ्चसन्ध्या सीखने में इन्हें डेढ़ वर्ष लगा। इस कारण इनके गुरुभाई और दूसरे साधु इनकी हँसी किया करते थे। परन्तु ये कभी हतोत्साह नहीं हुए; बराबर धीरे धीरे अपना कार्य करते गये।

इनकी गुरुभक्ति और धर्म निष्ठा देख कर इनके गुरु ने अपने अन्तिम समय में इनको 'पंन्यास' उपाधि देने के लिए अपने शिष्यों को आदेश किया। संवत् १९४९ की वैशाख शुक्ला सप्तमी को इनके गुरु का शरीरपात

* जैनी लोग सन्ध्यावन्दना को प्रतिक्रमण कहते हैं। अपने किये हुए पापादि के निवारणार्थ जैन पांच प्रतिक्रमण करते हैं,—प्रातःसन्ध्या, सायं सन्ध्या, पाक्षिक सन्ध्या, चातुर्मासिक सन्ध्या और वार्षिक सन्ध्या।

हुआ । इसके बाद इन्होंने अत्यन्त परिश्रम किया । संवत् १९४५ का चातुर्मास्य इन्होंने मांडल नगर में बिताया । इस तरह गुजरात के अनेक नगरों में घूम घूम कर इन्होंने लोगों को धर्मोपदेश देकर कृतार्थ किया । इस कार्य से इनकी बड़ी प्रसिद्धि हुई । इनके धर्मोपदेश से जैनियों के सिवा अन्यान्य सम्प्रदायवालों का भी बहुत उपकार हुआ । इस समय इनका विद्यानुराग भी बहुत प्रबल हो गया । लड़कपन में विद्याभिरुचि न होने के कारण इनकी बुद्धि मन्द पड़ गई थी । तथापि अपार परिश्रम करके इन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली । धर्म और न्यायशास्त्र का भी इन्होंने उत्तम ज्ञान प्राप्त किया ।

पुरातन जैनतीर्थ का पुनरुद्धार करना इनके जीवन का प्रधान उद्देश है । इस उद्देश की सिद्धि के निमित्त इन्होंने अब तक अनेक कार्य किये हैं । संवत् १९४७ में इन्होंने सादड़ी स्थित जैन-सम्प्रदाय के अनेक विवादों को मिटा कर बहुत वर्ष से राणकपुर के जैन-श्वेताम्बरमन्दिर की व्यवस्था की । १९५२ में इन्होंने उपरियाले तीर्थ का उद्धार कराया । यह तीर्थ भोयणी गाँव से चार कोस पर है । यहाँ फाल्गुन शुक्लाष्टमी को बहुत बड़ा मेला होता है ।

१९५७ संवत् में, श्रावणी पूर्णिमा के दिन, इन्होंने वीरमगाँव के जैनियों को उत्साहित करके एक बड़ा पुस्तकालय स्थापित कराया । इसका नाम "धर्मविजय पुस्तकालय" पड़ा । इसके सिवा इन्होंने सौराष्ट्र, गुजरात, मालवा, काठियावाड़ आदि देशों के अनेक सुप्रभाव और सम्पूर्ण विलुप्त जैन-तीर्थों का उद्धार किया और अनेक स्थानों में संस्कृतपाठशालायें तथा ज्ञानागार स्थापन कराये ।

प्राचीन समय में संस्कृत और प्राकृत साहित्य में जैनियों का जो स्था[न] था उसको पुनः प्राप्त करने की इन्हें इच्छा हुई । बहुत सोच विचार [के बाद] इन्होंने यह निश्चय किया कि काशी में एक जैन पाठशाला स्थापित करके जै[न] छात्रों को संस्कृत की उत्तम शिक्षा दी जाय तो इस उद्देश की सिद्धि [हो] सकती है । अतएव इन्होंने इसके लिए प्रयत्न करना आरम्भ किया । अ[नेक] स्थानों में घूम घूम कर इन्होंने लोगों पर अपने विचार प्रकट किये । [illegible] सत्प्रयत्नों [illegible] सफलता का हाल सुनकर अनेक लोग इनके सहायक हुए । [illegible] समिति प्रतिष्ठित हुई । यह समिति पा[illegible]

[illegible]

[illegible] काशी में [illegible] हुए। इसके पहले काशी में [illegible] था। इसलिए वहाँ के गृहस्थ जैन [illegible] काशी में जैन [illegible] दिनों के [illegible] जानते थे। अतएव मुनि महाराज [illegible] कोई [illegible] मालूम [illegible] के साधुओं ने काशी के जैन गृहस्थों का [illegible] बेहतर समझा [illegible] हुआ कि [illegible] की इन पर दिन दिन अधिक श्रद्धा भक्ति होने लगी। इसी समय मुनिजी ने एक प्राचीन धर्म-शाला में जैन पाठशाला का कार्य आरम्भ कर दिया। इस पाठशाला का नाम श्रीयशोविजय जैन-पाठशाला रक्खा गया। इसके बाद मुनि महाराज श्रीधर्म-विजयजी को पाठशाला के लिए एक अच्छा मकान प्राप्त करने का फ़िक्र हुई। उन्होंने नन्दन साहु के महल्ले में "अँगरेज़ी कोठी" नामक मकान इसके लिए उपयुक्त समझा। मुनि महाराज के उपदेशानुसार उनके गृहस्थ शिष्य बंबई निवासी सेठ वीरचन्द दीपचन्द, सी० आई० ई०, जे० पी० तथा सेठ गोकुलभाई मूलचन्द ने पचीस हज़ार रुपये में उक्त मकान पाठशाला के लिए ख़रीद दिया। इस मकान में पाठशाला आजाने पर श्रीधर्मविजयजी ने चेष्टा करके वहाँ एक संस्कृत-पुस्तकालय भी स्थापित किया। उसका नाम "हेमचन्द्राचार्य-विद्याभाण्डार" रक्खा गया।

※ जैनियों में 'यति' उनको कहते हैं जो द्रव्य और धातु छूते हैं, एक जगह से दूसरी जगह सवारी पर जाते हैं, छुर से हजामत बनवाते हैं। 'साधु' उन्हें कहते हैं जो ये काम नहीं करते। जैन यति शुक्ल वस्त्र पहनते हैं और जैन साधु पीले।

संवत् १९६२ में प्रयाग में, कुम्भ का मेला हुआ । उस समय पण्डित मदनमोहनजी मालवीय के उद्योग से वहाँ "सनातन-धर्म महासभा" का अधिवेशन हुआ । उस सभा में भारतवर्ष के सब स्थानों से पण्डित लोग आये थे । श्री धर्मविजय महाराज भी निमन्त्रित होकर पाठशाला के छात्रों और साधुओं के साथ वहाँ गये थे । इन्होंने माघ शुक्ल प्रतिपदा के दिन उस सभा की ज्ञानगोष्ठी के 'ऐक्य' विषय पर एक बहुतही उत्तम ज्ञान-गर्भित वक्तृता दी थी । उस अधिवेशन में उत्कलखण्ड के शङ्कराचार्यजी सभापति हुए थे ।

वहाँ से मुनि महाराज फिर काशी लौट आये और पाठशाला की उन्नति के लिए अनेक यत्न करने लगे । फिर संवत् १९६३ की कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा के दिन, श्रीधर्मविजयजी श्रीपार्श्वनाथ तीर्थ (समेतशिखर) की यात्रा को रवाना हुए । इस समय उनके साथ बहुत से विद्यार्थी और साधु शिष्य थे ।

पार्श्वनाथ-यात्रा समाप्त करके वे बीस विद्यार्थियों और पाँच साधुओं को साथ ले कर बङ्गदेश की ओर चले । कुछ दिनों में वे कलकत्ते पहुँचे । वहाँ भी इन्होंने जैन धर्म का प्रचार शुरू किया । जैनियों की तो कोई बात ही नहीं, दूसरे लोग भी बड़ी श्रद्धा से इनके उपदेश सुनने लगे । अनेकानेक बङ्गाली युवकों का धर्म, ज्ञान और विद्या में विशेष अनुराग देख कर इन्होंने राय बद्रीदास बहादुर के मकान में कई व्याख्यान दिये । इसी समय महा-महोपाध्याय पण्डित सतीशचन्द्र विद्या-भूषण का मुनि महाराज से परिचय हुआ । पण्डित महाशय मुनिजी के अगाध शास्त्रज्ञान पर मुग्ध हो गये । उन्होंने इनसे जैन दर्शन पढ़ा और इनके उपदेश से मांस-मछली खाना छोड़ दिया ।

बङ्गीय-साहित्य परिषद् के सभ्यों के अनुरोध से श्रीधर्मविजयजी ने उसके दो अधिवेशनों में सभापति का आसन ग्रहण किया । दोनों दफे उन्होंने बहुत ही सुन्दर और सारगर्भित व्याख्यान दिये । इनकी वक्तृता पर मुग्ध होकर बहुतों ने इनका मत ग्रहण किया ।

जैन पाठशाला का संस्कृत शिक्षा प्रणाली का संस्कार करने के निमित्त श्रीधर्मविजयजी ने कलकत्ते से बङ्गदेश के प्रधान विद्यापीठ नवद्वीप की यात्रा की वहाँ जाकर इन्होंने बहुत विचारपूर्वक वहाँ की शिक्षा प्रणाली का निरी-क्षण किया । नवद्वीप के महामहोपाध्याय पण्डितों ने इनका बड़ा आदर किया

वहाँ से ये काशी लौट आये। यहाँ पहुँच कर इन्होंने पाठशाला की बहुत ही बुरी दशा देखी। उसके छात्रों की संख्या ५३ से घट कर ८ हो गई थी। अतएव ये फिर से उसकी उन्नति की चेष्टा करने लगे। अब इस पाठशाला की दिन दिन उन्नति हो रही है।

श्रीविजयधर्मजी के काशी लौट आने पर, संवत् १९६४ की श्रावण शुक्ल-चतुर्दशी को, श्रीयशोविजय-जैन पाठशाला में एक बड़ी भारी सभा हुई। काशीनरेश महाराज प्रभुनारायणसिंह बहादुर, जी० सी० एस० आई० ने सभापति का आसन ग्रहण किया। इस सभामें भारतवर्ष के सब स्थानों के पण्डित एकत्र हुए थे। सब ने एक मत होकर श्रीधर्मविजयजी को "शास्त्र-विशारद जैनाचार्य" की उपाधि दी। प्रतिष्ठापत्र पर सब पण्डितों ने हस्ताक्षर किये।

जैन पाठशाला में इस समय अच्छे अच्छे अध्यापक हैं। विद्यार्थियों को संस्कृत और प्राकृत भाषा की उत्तम शिक्षा दी जाती है। मुनि महाराज के सुयोग्य शिष्य इन्द्रविजयजी पाठशाला का बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध करते हैं। परन्तु इतने पर भी श्रीधर्म विजय महाराज को सन्तोष नहीं। उनकी राय है कि पाली भाषा जाने बिना भारतीय साहित्य, भारतीय इतिहास, भारतीय दर्शन और भारतीय धर्म की शिक्षा पूरी नहीं होती। इसी से उस साल, जब महामहोपाध्याय डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण, एम० ए० भारत-गवर्नमेंट की आज्ञा से सिंहल द्वीप (Ceylon) गये थे तब मुनि महाराज ने भी अपने दो सुहृत्य शिष्यों को पण्डित महाशय की निगरानी में रह कर पाली भाषा सीखने के लिये सिंहल भेजा था। इन दोनों ने वहाँ रह कर पाली भाषा का अध्ययन किया और उसमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। वहाँ से लौटने के पहिले इन्होंने जैनधर्म पर पाली भाषा में एक व्याख्यान दिया। यह व्याख्यान सिंहल के प्रधान विद्यालय में वहाँ के प्रसिद्ध प्रसिद्ध पण्डितों और पाली-भाषा-विशारद बौद्ध साधुओं के सामने हुआ था। इन विद्यार्थियों की इतने कम समय में पाली भाषा में ऐसी योग्यता प्राप्त करते देख सुमङ्गलाचार्य आदि पाली भाषा के आचार्यों ने उन्हें प्रतिष्ठापत्र और अमूल्य लिखित पुस्तकों का उपहार दिया। परन्तु इतना सुभे करवाके श्रीधर्मविजयजी ने जिस उद्देश से विद्यार्थियों को सिंहल भेजा था वह सिद्ध

नहीं हुआ। मुनि महाराज ने विद्यार्थियों को यह जानने के लिए भेजा था कि जैन और हिन्दू दर्शन शास्त्रों में बौद्ध मत का जो पूर्वपक्ष देख पड़ता है उसका मूल पाली ग्रन्थों में है या नहीं। किन्तु सिंहल में बौद्ध साधु दर्शन शास्त्र पर चर्चा नहीं करते इस कारण केवल भाषा मात्र की शिक्षा देकर ही इन लोगों ने दोनों विद्यार्थियों को बिदा कर दिया। मुनि महाराज इन दोनों विद्यार्थियों को इस काम के लिए तिब्बत और मङ्गोल भेजने का विचार कर रहे हैं। इन विद्यार्थियों से क्यों, महापण्डितों से, एक बार काशी में मिल कर हमने बहुत आनन्द प्राप्त किया है।

लुप्त जैन-ग्रन्थों का उद्धार और उनका प्रचार करना भी इनके जीवन का एक उद्देश है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए इन्होंने पाठशाला से 'श्रीयशो-विजय जैन-ग्रन्थमाला' प्रकाशित करना आरम्भ किया है। अब तक इसमें कोई १५, १६ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। यह ग्रन्थमाला हर महीने प्रकाशित होती है। इसके लिए पाठशाला में एक छापाखाना भी है। इस पुस्तकमाला से केवल जैनधर्म ही का उपकार नहीं होता, प्राचीन इतिहास और भाषाशास्त्र की भी बहुत कुछ सामग्री इसमें इकट्ठी हो रही है।

श्रीविजयधर्म सूरि जी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैनों के प्रधान आचार्य हैं। ये बड़े ही उद्यम और सत्यनिष्ठ हैं। इनकी स्थापित की हुई जैन-पाठशाला में जैन-विद्यार्थियों के सिवा हिन्दू-विद्यार्थियों को भी शिक्षा दी जाती है। ये दोनों ही पर समान दृष्टि रखते हैं-दोनों ही के अभावमोचन की एक सी चेष्टा करते हैं। इनकी राय है कि प्रकट रूप से जैन धर्म ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं। जैन धर्म के उपदेशों के अनुसार कार्य करना ही यथार्थ धर्मग्रहण करना है। ये जैन धर्म को ही भारत का आदि और मुख्य धर्म मानते हैं। योरप में जैन धर्म का प्रचार करने की ओर भी इनका ध्यान है। जैनशास्त्र के पण्डित और धर्मप्रचार-समर्थ दो तीन छात्रों को योरप भेजने का भी ये विचार कर रहे हैं। मुनि महाराज जैनशास्त्र और जैनधर्म में विशेष श्रद्धा रखनेवाले योरप के विद्वानों को प्राचीन जैनशास्त्र के ग्रन्थ पढ़ने को देते हैं और पत्र द्वारा उनकी शङ्काओं का समाधान किया करते हैं इन्होंने 'बिबलिओथिका इण्डिका' नाम की ग्रन्थमाला में योगशास्त्र आदि पुस्तकों का स्वयं सम्पादन किया है और अन्यान्य पण्डितों को अनेक प्राचीन जैन ग्रन्थों के सम्पादन में

सहायता दी है। इसके सिवा जैनतत्त्वदिग्दर्शन जैनशिक्षादिग्दर्शन आत्मोन्नतिदिग्दर्शन, अहिंसादिग्दर्शन पुरुषार्थ-दिग्दर्शन, इन्द्रियपराजयदिग्दर्शन आदि कितने ही ग्रन्थों की इन्होंने रचना की है। इन ग्रन्थों को पढ़ने से इनके गम्भीर विचारों का अच्छा परिचय मिलता है । ये हमेशा संसार की भलाई की ही चिन्ता किया करते हैं । भूतदया, अहिंसा और स्वार्थत्याग इनका मूलमन्त्र है। फ्रांस की राजधानी पेरिस से एशियाटिक सोसायटी के जर्नल की तरह की एक पत्रिका निकलती है। उसका नाम है जर्नल एशियाटिकी [Journal Asiatque] उसके गतवर्ष के एक अङ्क में एक फरासीसी विद्वान् ने श्री-विजयधर्मसूरि का जीवन-चरित्र प्रकाशित किया है और उसमें इनके गुणों की भूरि भूरि प्रशंसा की है । अभी हाल में इन्होंने काशी में एक पशुशाला स्थापित की है। महाराज काशिराज उसके रक्षक हुए हैं। आप बड़े महात्मा हैं। इनके दर्शनों से हम कई बार कृतार्थ हो चुके हैं।

"सरस्वती"

अर्हम्

शान्तमूर्तिश्रीवृद्धिचन्द्रगुरुभ्यो नमः ।

अहिंसादिग्दर्शन ।

नत्वा कृपानदीनाथं जगदुद्धारकारकम् ।
अहिंसाधर्मदेष्टारं महावीरं जगद्गुरुम् ॥ १ ॥
मुनीशं सर्वशास्त्रज्ञं वृद्धिचन्द्रं गुरुं तथा ।
समदृष्ट्या दयाधर्मव्याख्यानं क्रियते मया ॥ २ ॥

अनादि काल से जो इस संसार में प्राणीमात्र नये नये जन्मों को ग्रहण करके जन्म, जरा, मरणादि असह्य दुःखों से दुःखित होते हैं उसका मूल कारण कर्म से अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। इसलिए समस्त दर्शन (शास्त्र) कारों ने उन कर्मों को नाश करने के लिए शास्त्रद्वारा जितने उपाय बतलाये हैं, उन उपायों में सामान्यधर्मरूप अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निस्पृहत्व, परोपकार, दानशाला, कन्याशाला, पशुशाला, विधवाऽऽश्रम, अनाथाश्रमादि सभी दर्शनवालों को अभिमत हैं; किन्तु विशेषधर्मरूप–स्नान सन्ध्यादि उपाय में विभिन्न मत हैं, अत एव यहाँ विशेषधर्म की चर्चा न करके केवल सामान्यधर्म के संबन्ध में विवेचना करनाही लेखक का मुख्य उद्देश है और उसमें भी सर्वदर्शनवालों की अत्यन्तप्रिया दयादेवी का ही अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन करने की इच्छा है। उसीको आक्षेपरहित पूर्ण करने के लिए लेखक की प्रवृत्ति है। दया का स्वरूप–लोकव्यवहारद्वारा, अनुभवद्वारा और शास्त्रद्वारा लिखा जायगा; जिसमें प्रथम लोकव्यवहार से यदि विचार करें तो मालूम होता है कि जगत् के समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में दया का अवश्यही संचार है; अर्थात् दुर्बल जीव पर यदि कोई बलवान जीव

मार्ग में आक्रमण करता [illegible] भाग पुरुष, बलवान से दुर्बल को बचाने के लिए [illegible] प्रयत्न करेगा और कि यदि किसी को [illegible] हो और वह निर्बल हो तो उसकी [illegible] सुनेंगे [illegible] की कोशिश अवश्यही करेंगे वैसेही कोई कैसाही क्यों न पुरुष और दो उसको यदि बल-वान् और मारता होगा तो उसके छुड़ाने का प्रयत्न लोग अवश्य करेंगे, याने छोटे पक्षी को बड़ा पक्षी, बड़े पक्षी को बाज, बाज को बिल्ली, बिल्ली को कुत्ता, और कुत्तेको [illegible]) मारता होगा तो उसके छुड़ाने का प्रयत्न, [illegible] अवश्यही करेगा । इसीसे कृष्णजी (जिनको हिन्दू लोग भगवान मानते हैं) को भी कपट-नीति को देखकर लोग एक बार उनके भी कृत्यों की निन्दा करने में संकोच नहीं करते हैं । अर्थात्भारत युद्ध के समय चक्रव्यूह (चकाबा) के बीच में जो अभिमन्यु से कृष्ण ने कपट किया था उसको सुनकर आजभी समस्त भक्तजन उनकी भी निन्दा करने को तैयार होते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि लोगोंके मनमें स्वाभा-विकही दया बसी हुई है, किन्तु खेद की बात है कि जिह्वा इन्द्रिय के लालच से फिरभी अकृत्य को करते हैं अर्थात् मांसाहार में लुब्ध हो कर धर्म कर्म से रहित हो जाते हैं, क्योंकि यदि मांसाहार करने-वाला सहस्रों दान पुण्य करे तौभी एक अभक्ष्य आहार के द्वारा समस्त अपने गुणों को दूषित करदेता है । जैसे भोजन चाहे जितना सुन्दर हो किन्तु यदि उसमें लेशमात्र भी विष पड़जाय तो वह फिर [illegible] नहीं रहता, वैसेही मांसाहारी कितनेही शुभ कर्म करे तौभी वे [illegible] हैं, क्योंकि जिसके हृदय में दया का संचार नहीं है उसका हृदय हृदय नहीं किन्तु पत्थर है । मांसाहारी ईश्वरभजन, सन्ध्या आदि कोईभी धर्मकृत्य के लायक नहीं गिना जासकता, उसमें कारण यह है कि विना स्नान के, सन्ध्या और ईश्वरपूजादि शुभकृत्य नहीं किए जाते और "मृतं स्पृशेत् स्नानमाचरेत्" इस वाक्य से मुरदे

को इधर स्नान अवश्य ही करना चाहिये तब विचारने का समय है कि वकरा, भेंसा, मछली आदि का मांस भी मुर्दाही है, उसके खाने से स्नानशुद्धि कैसे गिनी जायगी ? क्योंकि मांसका अंश पेट से जल्दी नाश नहीं होता तब बाहर का स्नान क्या करेगा ? इसी कारण से वराहपुराण में वराहजीने वसुन्धरा से अपने बत्तीस अपराधियों में से मांसाहारी को अठारहवाँ अपराधी कहा है; वहां उस प्रकरण में यह कहा है कि जो मांसाहार करके मेरी पूजा करता है वह मेरा अठारहवां अपराधी है । जैसे–

" यस्तु मात्स्यानि मांसानि भक्षयित्वा प्रपद्यते ।
अष्टादशापराधं च कल्पयामि वसुन्धरे ! " ॥

कलकत्ता गिरिशविद्यारत्न प्रेसमें मुद्रित पत्र ५०८ अ० ११७ श्लो० २१

" यस्तु वाराहमांसानि प्रापणेनोपपादयेत् ।
अपराधं त्रयोविंशं कल्पयामि वसुन्धरे ! " ॥

" " श्लो० २९

" सुरां पीत्वा तु यो मर्त्यः कदाचिदुपसर्पति ।
अपराधं चतुर्विंशं कल्पयामि वसुन्धरे ! " ॥

" " श्लो० ३०

सज्जनगण ! केवल इतनाही नहीं किन्तु प्रत्यक्ष दोषों से भी मांसाहार सर्वथाही त्याग करने योग्य है । देखिये– मांसाहारी के शरीर से सदैव दुर्गन्धि निकला करती है और उसका पसीना भी दुर्गन्धित रहता है । यद्यपि जीवोंका यह स्वभाव है कि जिस काम को वे किया करते है वह उन्हें अच्छाही मालूम होता है तो भी उनको विचार करना चाहिये कि जैसे जिसको मांस का व्यसन पड़ जाता है तो वह उसे अच्छाही समझता है इतनाही नहीं बल्कि दूसरों के सामने प्रशंसा भी करता है, एवं मद्य को पीनेवाला मद्य पीने के समय औषधि की तरह पीता है वैसेही मांस खानेवाले से यदि पूछाजाय तो उसके बरतन (जिसमें कि उसने मांस पकाया है)

और उसके हाथ (जिससे उसने मांस खाया है) बहुत मुश्किल से साफ होते हैं, तथा मत्स्यादि मांस खानेके अनन्तर खानेवाले के मुखमें लार निकलती है जो कि पान, सुपारी आदि बिना खाये शुद्ध नहीं होती. ऐसे कष्टोंको सहन करता हुआ भी कोई २ जीव उसी आहार को अच्छा मानता है। अधिक क्या कहा जाय, डाक्टर की भांति फिर उसे उन पदार्थों में घृणाभी नहीं होती। जैसे डाक्टर पहिले जब मुरदे को चीरता है तो उसे कुछ घृणा भी आती है किन्तु पीछे धीरे २ बिल्कुल घृणा जाती रहती है उसी तरह मांसाहारी का हाल समझना चाहिए। अगर मछली आदि खानेवाले से पूछा जाय तो मालूम होगा कि मछली आदि के काटने पर जो जल उसमें से निकलता है वह कैसी दुर्गन्धि पैदा करता है ? कि जिसकी दुर्गन्धि से भी मनुष्य को क्य (वमन) होजाता है। हा ! ऐसे नीच पदार्थों को उत्तम पुरुष कैसे खाते होंगे ? यह भी एक सोचने की बात है। वनस्पति, जो कि सर्वथा मनुष्य को सुखकर है, उसका भी पुष्प यदि दुर्गन्धित होजाय तो उसे मनुष्य फेंक देते हैं. किन्तु मल, मूत्र, रुधिर आदि से संयुक्त, सड़ेहुए और कीड़ोंसे भरे हुए भी मांस को यदि मनुष्य नहीं छोड़ें तो उन्हें मनुष्य कैसे कहना चाहिए।

कोई २ मांसाहारी जो यह कहते हैं कि मांस खाने से शरीरमें बल बढ़ता है और वीरता आती है वह उनलोगों की भूल है, क्योंकि यदि मांसाहार से बल बढ़ता होता तो हाथी से सिंह अधिक बलवान् होता, क्योंकि जो बोझा हाथी उठाता है वह सिंह कदापि नहीं उठा सकता। अगर कोई यह कहे कि हाथीसे सिंह यदि बलवान् नहीं होता तो हाथी को कैसे मारडालता है ! इसका उत्तर यह है कि हाथी फलाहारी होनेसे शान्तस्वभाव है और सिंह मांसाहारी होनेसे क्रूरात्मा है, इसलिए हाथी को दबा देता है, अन्यथा शुण्डादण्ड से यदि हाथी सिंह को पकड़ ले तो उसकी रग रग को चूर कर सकता है। अतएव यह बात सभीको स्वीकार करनी

पड़ेगी कि मांसाहार से क्रूरता बढ़ती है और क्रूरता किसी पुण्य-कृत्य को अपने सामने टहरने नहीं देती है ; और यह भी सब लोग सहज में समझ सकते हैं कि जो मांसाहारी लोग अपने घर में झगड़े के समय मार पीट करने से बाज नहीं आते, वह क्या निर्दयता का फल नहीं है ! इसलिये मांसाहारही का फल निर्दयता स्पष्ट मालूम पड़ता है ।

अब रही वीरता–वह भी मांस का गुण नहीं है किन्तु पुरुष काही स्वाभाविक धर्म है ; क्योंकि अगर नपुंसक को ताकतदेनेवाले हजारों पदार्थ खिलाए जावें तौभी वह युद्ध के समय अवश्य भागही जायगा ; इसमें प्रत्यक्ष दृष्टान्त यह है कि बङ्ग, मगध आदि देश के मनुष्य प्रायः मांसाहारी होने पर भी ऐसे कातर होते हैं कि यदि चार आदमी भी छपरे जिले के हों तो बङ्गदेशीय ५० पचास आदमी भाग जायँगे ; लेकिन बेचारे छपरे जिले के आदमी प्राय सत्तूही खाकर गुजर करते हैं ।

गुरु गोविन्दसिंह के शिष्य सिक्खलोग, जो कि किले के फतह करने में अव्वल नम्बर के गिने जाते हैं वे भी प्राय फलाहारी ही देखने में आते हैं ; इसका कारण यह है कि जैसी लड़ाई स्थिरचित्त से फलाहारी लोग लड़ते हैं वैसी मांसाहारी कदापि नहीं लड़ सकते । उसमें दूसरा कारण यह भी है कि मांसाहारी को गर्मी बहुत लगती है और श्वास भी ज्यादा चलती है किन्तु फलाहारी को नतो वैसी गर्मी लगती है और न श्वासही बढ़ती है ।

पाठकगण ! आपलोगों ने सुना होगा कि जब रूस और जापान की लड़ाई हुई थी तब प्रायः कच्चेही मांस के खानेवाले बड़े भयानक रूसियों को भी, मिताहारी और विचारशील जापानी वीरों ने पराजय करके संसार में कैसी आश्चर्यकारिणी अपनी जयपताका फहराई थी। यदि मांसाहार से ही वीरता बढ़ती होती तो रूस की सेना में मनुष्य बहुत थे इतनाही नहीं किन्तु मांसाहार करने में भी कुछ कमी नहीं थी, फिरभी उन्हीं लोगों की क्यों हार हुई ! इससे साफ जाहर

हुआ कि हार का मूल कारण अभिधारचिन्तनाही है।

मनुष्य की प्रकृति मांसाहार की न होने पर भी जो इन्द्रिय की लालच से निर्विवेकी जन मांसाहार करते हैं उसका बुरा फल सबको प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। अर्थात् मांसाहारी प्रायः मद्य का सेवक, वेश्यागामी तथा निर्दयहृदय होता है। यद्यपि कोई २ मांसाहारी वैसा दुर्गुणी नहीं होता तौभी उसके शरीर में बहुत रोग हुआ करते हैं। जैसे मत्स्यमांसादि के पाचन न होने से खानेवाले को रात्रि में खट्टी डकारें आती हैं, और बहुतों का खून बिगड़ जाता है, तथा शरीर पीला पड़जाता है हाथ पैर सूख जाते हैं, पेट बढ़ जाता है, और किसी २ के तो पेर भी फूल जाते हैं, तथा गले में गांठ पैदा हो जाती है, और यहां तक देखने में आया है कि बहुत से मांसाहारी कुष्ठादि रोग से पीड़ित होकर परम कष्ट सहते हुए मरभी जाते हैं। जो कोई इन कष्टों से बच भी जाता है तो उसमें पापानुबन्धी पुण्य का उदय ही कारण समझना चाहिए। अर्थात् जब उस पुण्य का क्षय होगा तब जन्मान्तर में वह अत्यन्त दुःख का अनुभव करेगा।

गोस्वामी तुलसीदास जी कहगये हैं –

" जबतक पूरविल पुण्यकी पूजी नहीं करार।
तबतक सब कुछ माफ है औगुन करो हजार "॥ १॥

प्रायः मांसाहारी की मृत्यु भी विशेष दुःख से ही होती है और उसके मृत्यु के समय कितनेही स्पष्ट तथा गुप्त रोग उत्पन्न होते हैं, इस बात का लोग प्रायः अनुभव किया करते हैं।

मनुष्यों की स्वाभाविक प्रकृति फलाहारीही है क्योंकि मांसाहारी जीवों के दाँत मनुष्य के दाँतों से विलक्षण होते हैं और जठराग्नि भी उनकी मनुष्यों से भिन्न प्रकार की ही होती है, तथा स्वभाव भी विचित्र दिखलाई देता है; एवं समस्त मांसाहारी जीव जिह्वा ही से जल पीते हैं किन्तु मनुष्य जाति तो मुख से पीती है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य की जाति स्वाभाविक मांसाहारी नहीं है, फिरभी जो

मांस खाते हैं वे पलाद (पलमत्तीति पलाद:) गिने जाते हैं।

मुसलमान और हिन्दुओं में खान पान ही से विशेष भेद है, क्योंकि मुसलमान के हाथ का जल हिन्दू नहीं पी सकते और न प्रायः उनके आसन पर बैठ सकते हैं, किन्तु उन्हें हिन्दुओं के हाथ का पानी और उनके आसन के ग्रहण करने में कोई परहेज नहीं है। उसमें कारण यह है कि मुसलमान अपने भोजन में प्रधान मांसही रखते हैं। यदि हिन्दू भी वैसाही करने लगें तो फिर परस्पर भेदही क्या रहेगा ! अर्थात् जैसे प्रायः सभी मुसलमान बकरीद के दिन बकरे वगैरह जानवरों की जान लेते हैं, वैसेही बहुत से हिन्दू लोग नवरात्र में बकरे आदि जीवों को मारते हैं; एवं जैसे मुसलमान अपनी दावत में यदि मत्स्यमांस का विशेष व्यवहार करते हैं तो वह दावत उत्तम गिनी जाती है, वैसेही यदि श्राद्ध में हरिणादि मांस का व्यवहार हिन्दू लोग करें तो वह श्राद्ध उत्तम गिना जाता है; तथा जैसे मुसलमान लोग खुदा के हुक्म से जीव मारने में पाप न मानकर खुदा के हुक्म की तामील करने से खुश होते हैं, वैसेही हिन्दूलोग देव-पूजा–यज्ञक्रिया मधुपर्क-श्राद्धादि में जीवहिंसा को हिंसा न मानकर अहिंसाही मानते हैं; इतनाही नहीं, बल्कि मरनेवाले और मारनेवाले दोनों की उत्तम गति मानते हैं। अब यहां पर मध्यस्थ दृष्टि से विचार करने पर हिन्दू और मुसल्मानों में बहुत भेद मालूम नहीं पड़ता, क्योंकि जो हिन्दूलोग मांस नहीं खाते और मुसलमानों के हाथ का जल नहीं पीते हैं वे तो ठीकही हैं किन्तु मांसाहार करने परभी जो हिन्दू सफाई दिखाते हैं वह उनका बिल्कुल पाखण्डही है, क्योंकि दोनों मरकर बराबर दुर्गति पावेंगे, अर्थात् दोनों एकही रास्ते पर चलनेवाले हैं। इसपर कबीर ने कहा है:–

> " मुसलमान मारे करद सों हिन्दू मारे तरवार।
> कहें कबीर दोनों मिलि जैहैं यम के द्वार " ॥

इसीसे मांसाहारकरनेवाले हिन्दू आर्य नहीं कहेजासकते क्योंकि

आर्य शब्द से वही लोग व्यवहार करने योग्य हैं जिनके हृदय में दया-भाव, प्रेमभाव, शौच आदि धर्म विद्यमान हैं, किन्तु मांसाहारी के हृदय में न तो दयाभाव रहता है और न प्रेमभाव ।

एक मांसाहारी (जिसने उपदेश पाकर मांसाहार त्याग दिया) मुझे मिला था, वह जब अपनी हालत कहने लगा तो उसकी आंख से अश्रुपात होने लगा । अश्रुपात होनेका कारण जब मैंने उससे पूछा तो वह कहने लगा कि मेरे समान निर्दय और कठोरहृदय, इस दुनियां भर में थोड़ेही पुरुष होंगे । क्योंकि कुछदिन पहले मैंने एक बड़े सुन्दर बकरे को पाला था, वह मुझे अपना प्रेम पुत्रसे भी अधिक दिखलाता था और मैं भी उससे बहुत प्रेम करता था, अतएव वह प्रायः दाना चारा मेरे हाथ से दिये बिना नहीं खाता था और जब मैं कहीं बाहर चला जाता था और आने में दो चार घण्टे की देर हो जाती थी तो वह रास्ते को देख२ कर ब्यां२ किया करता था, अगर कहीं एक दो दिन लग जाता था तो चारा पानी बिलकुल नहीं खाता था और मेरे आने पर बड़ा आनन्द प्रकट करता था, उसी बकरे को मैंने अपने हाथसे मांस के लिए मार डाला और उस मास को आए हुए पाहुनों (प्राघूर्णिक) के साथ मैंने भी खाया । यदि उस बकरे के मरनेकी हालत मैं आपके सामने कहूँ तो मुझे आप पूरा चाण्डाल ही कहेंगे । हा ! जब २ वह बकरा मुझे याद आता है तब २ मेरा कलेजा फटने लगता है, इसलिये मैं निश्चय और मजबूती से कहता हूं कि जो मांसाहार करता है वह सबसे भारी पापी है क्योंकि अन्य अकृत्यों से जीवहिंसा ही भारी अकृत्य है ।

यदि कोई यह कहे कि हम मारते नहीं और न हमें हिंसा होती है तो यह कथन उसका वृथा है क्योंकि यदि कोई मांस न खावे तो कसाई बकरे को जबह क्यों करे । अत एव धर्मशास्त्र में भी एक जीव के पीछे आठ मनुष्य पातक के भागी गिने गये हैं । यथा--

" अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।

संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः" ॥ १ ॥

भावार्थ– मारने में सलाह देनेवाला; शस्त्र से मरेहुए जीवों के अवयवों को पृथक् २ करनेवाला, मारनेवाला, मोललेनेवाला, बेचनेवाला, सँवारनेवाला, पकानेवाला और खानेवाला ये सब घातकही कहलाते हैं।

यहाँ पर कोई कोई मांसाहारी लोग यह प्रश्न करते हैं कि फलाहारी भी तो घातकही हैं क्योंकि शास्त्रकारों ने पौधों में भी जीव माना है, फिर फलाहारी और धर्मान्ध पुरुष केवल मांसाहारी ही पर व्यर्थ आक्षेप क्यों करते हैं ? । इसका उत्तर यह है कि जीव अपने२ पुण्यानुसार जैसे २ अधिकाधिक पदवी को प्राप्त करते हैं वैसे २ अधिक पुण्यवान् गिने जाते हैं; इसी कारण से जो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय रूप से जगत में जीवों के मूल भेद पाच माने गए हैं, उनमें एकेन्द्रिय जीव से द्वीन्द्रिय अधिक पुण्यवान् होता है और द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय, तथा त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय-इस तरह सर्वोत्तम जीव पञ्चेन्द्रिय समझना चाहिए। और पञ्चेन्द्रिय में भी न्यूनाधिक पुण्यवाले हैं; अर्थात् तिर्यक् पञ्चेन्द्रिय (बकरा, गौ, भैंसे आदि) में हाथी अधिक पुण्यवान् है, और मनुष्यवर्ग में भी राजा, मण्डलाधीश, चक्रवर्ती और योगी अधिक पुण्यवान् होने से अवध्य गिने जाते हैं, क्योंकि संग्राम में यदि राजा पकड़ा जाता है तो मारा नहीं जाता। इससे यह सिद्ध हुआ कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय के मारने में अधिक पाप होता है, एवं अधिक २ पुण्यवान् के मारने से अधिक २ पाप लगता है। इसलिए जहांतक एकेन्द्रिय जीव से निर्वाह हो सके, वहांतक पञ्चेन्द्रिय जीव का मारना सर्वथा अयोग्य है। यद्यपि एकेन्द्रिय जीव का मारना भी पापबन्ध का कारणही है किन्तु कोई उपायान्तर न रहने से गृहस्थों को यह कार्य अगत्या करनाही पड़ता है। अत एव कितनेही भव्य जीव इस पाप के भय से धन, धान्य, राज, पाट

वगैरह छोड़कर साधु होजाते हैं, और अपने जीवनपर्यन्त अग्नि आदि को भी नहीं छूते, तथा भिक्षामात्र से उदरपोषण करलेते हैं। गृहस्थ भी जो अगत्या एकेन्द्रिय का नाश करते हैं उस पाप के परिहार के लिए साधुओं की सेवा, दान, धर्म और दोनों सन्ध्या आदि पुण्यकृत्य जन्मभर किया करते हैं।

भिक्षामात्रजीवी साधुओं के ऊपर आरम्भ का दोष नहीं है, क्योंकि गृहस्थ लोग जो अपने लिए आहार बनाते हैं उसमें वे लोग अत्यन्त आवश्यक तथा निर्दोष पदार्थ मात्र को ग्रहण करते हैं तिसपर भी गृहस्थों को यह नहीं मालूम रहता कि आज मेरे घर साधुलोग भिक्षा लेने आवेंगे। अनायास ही भोजन के समय गृहस्थ के घर पर साधु जाकर समयोचित आहार ग्रहण करता है जिससे कुछ भी दोष पूर्वकाल या उत्तर काल में उसे नहीं लगता।

यदि यहां पर कोई यह प्रश्न करे कि तब साधुओं को सन्ध्यादि क्रिया करने से क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर यह है कि आहार नीहारादि के लिए उपयोगपूर्वक भी गमनागमन क्रिया करने में जो अनुपयोगरूप से दोष लगता है उसके प्रायश्चित्तनिमित्त ही वह क्रिया की जाती है।

महाशय! लोक व्यवहार मे अनुभव द्वारा विचार करने पर एक सामान्य न्याय दिखाई पड़ता है कि "जैसा आहार वैसा विचार" याने उत्तम आहार खाने से उत्तमही विचार उत्पन्न होगा और मध्यम आहार से मध्यम, किन्तु तुच्छ आहार करनेसे तुच्छही विचार होगा; इसलिए समस्त दर्शनवालों के महात्मालोग जब योगारूढ़ होते हैं तब उनका आहार कैसा अल्प होता है यह भी देखने ही के लायक है। तात्पर्य यह है कि सर्वोत्तम आहार में मूँग की दाल और चावल तथा उसके साथ में वनस्पति की किसी प्रकार की तरकारी गिनी गई है; क्योंकि भात हलका और पौष्टिक भोजन है, इसीलिए प्रायः समस्त देशोंमें यह भोजन श्रेष्ठ गिना

जाता है और प्राय. चावल खानेवाले बुद्धिमान् ही दिखाई पड़ते हैं। वर्तमान के अल्पज्ञ और रसनेन्द्रिय के लोभी, ऐसे उत्तम भोजन में कुत्सित मांस को मिलाकर भातके सर्वोत्तम और स्वतन्त्र (बुद्धि बढ़ानेवाले) गुण को नष्ट कर देते हैं। और बाकी बचे हुए गुण को भी जो मांसादि का ही गुण मानते है, वह उनकी कितनी भारी भूल है। अगर मछली मांस को छोड कर-के दाल भात का ही आहार रक्खा होता तो आज दिन बङ्गाल वगैरह देश बुद्धिबल में बहुतही बढ़ जाते, अतएव इङ्गलेन्ड जो आ-जकल बुद्धिबल में तेज है वह भी भात का ही प्रताप है। यद्यपि बुद्धिबल मुख्य गुण आत्मा का ही है तथापि वायु के वेग से वह मलिन हो जाता है, और मांसाहार वायु को विशेष बढ़ाता है। अतएव केवल मांसाहार करनेवाला जंगली (निर्बुद्धि) गिना जाता है। जो किसी २ देश में मनुष्य, विशेष बुद्धिमान् होते हैं उसका भी कारण उस देश में वायु का प्रकोप कम होनाही मानना चाहिये। जिस आहार में वायु का प्रकोप कम होता है वह आहार उत्तम गिना जाता है; जैसे चावल, दाल, और वनस्पति वायु को नहीं बढ़ाते, इसलिए वह उत्तम ही भोजन है; परन्तु गेहूँ की रोटी, उड़द की दाल मध्यम आहार गिना जाता है, क्योंकि उसमें बुद्धि की वृद्धि और हानि दोनों का प्राय. सम्भव है, किन्तु वायुकारक होने से सबसे अधम मांसही का आहार गिना गया है। अतएव मनुष्यों को उत्तम आहारही ग्रहण करना योग्य है और अधम सर्वथा त्याज्य है। जिस देश में मांसाहार का विशेष प्रचार है वह देश इतिहासों से असभ्य सिद्ध होता है, किन्तु भारतवर्ष सर्वदा और सर्वथा शिल्पकला, धर्मकला आदि में प्रवीण होने से असभ्य नहीं माना जाता। अब रही बात यह कि जो उसके कितनेही भागों में और कितनीही जातियों तथा धर्मों में मांसाहार प्रवेश करगया है उसका कारण यह है कि श्रीमहावीर स्वामी के बाद बारह वर्ष का दुष्काल तीन बार पड़गया, उस

समय अन्न के अभाव होने से बहुत मनुष्य अपने २ प्राण की रक्षा के लिए मांसाहारी बनगए किन्तु धीरे २ अकाल की निवृत्ति होने परभी मांसाहार का अभ्यास दूर न हुआ । अतएव जैन साधुओं का विहार सर्वथा पूर्व देशादि में शुद्धाहार के न मिलने से तथा मुसल्मानों के उपद्रव होने से बन्द होगया था, इसलिए लोगों को अहिंसा धर्म का उपदेश नहीं मिला।

कितने ही कल्याणाभिलाषी भव्य जीवों ने मांसाहारी ब्राह्मणों से यह प्रश्न किया कि महाराज ! मांसाहार करने वाले को शास्त्रों में भारी दण्ड लिखा है अर्थात् पशु की देह पर जितने रोम होते हैं उतने हजार वर्ष मारनेवाला नरक के दुःख का अनुभव करता है तो अपने लोगों की मांसखाने से क्या गति होगी ? इसके उत्तर में ब्राह्मणों ने कहा कि अविधिपूर्वक मांस खाने से ही नरक होता है, किन्तु विधिपूर्वक मांस खाने से धर्म ही होता है । अतएव तुम लोग भी यदि देवपूजा, या श्राद्धादि में मांस खाओगे तो हानि नहीं होगी । इसी तरह साथही साथ पूर्वोक्त बात का उपदेश भी करना प्रारम्भ कर दिया और जैसा मन में आया वैसे श्लोक भी बना दिये ।

देखिये स्वार्थ और इंद्रियवाद में लुब्ध अपनी झूठी कीर्ति के लिए उन लोगों ने कैसा अनर्थ किया ! क्योंकि विचार करने की बात है, यदि हिंसाही से धर्म होता हो तो फिर अधर्म किसे कहा जायगा ? क्योंकि मांसाहार करने वाले का मन प्रायः दुःखित और मलिन रहता है और किसी जीव के देखने पर उसके मनमें यही भाव उत्पन्न होता है कि यह जीव कैसा सुंदर है और इसका मांस स्वादिष्ट तथा पुष्टिकर ही होगा, तथा इसमें कितना मांस निकलेगा । इसलिए मांसाहारी को वन में जानेपर हरिणादि जीवों को देखकर उनके पकड़ने की ही अभिलाषा उठती है । अथवा तालाब या नदी के किनारे पर मत्स्य को देखकर मारने ही की अभिलाषा उत्पन्न होती है । इसी तरह आठपहर हिंसक जीव रौद्र परिणामवाला बना रहता है । जैसे व्याघ्र, सिंह, बिल्ली आदि हिंसक जीवों को, खाने के लिए

कोई भी न मिलने पर भी देखे व संयम करने से मनुष्य मात्र अवश्य मिलती है वैसी ही मांसाहारी जीव की दशा जाननी चाहिए। हा! मांसाहारी जीव सुन्दर पक्षियों का नाश करके जङ्गलों को शून्य कर देते हैं और सुन्दर बालिके से अपने कुटुम्ब के साथ आनन्द से बैठे हुए पक्षियों को बन्दूक वगैरह से मारकर नीचे गिरा देते हैं। मुझे विश्वास है कि उस समय के दीनता रूप को दयालु पुरुष तो कभी नहीं देख सकता, लेकिन मांसाहारी तो इसीको देखकर बड़ी प्रसन्नता से मारनेवाले को उत्तेजना देता है कि वाह! क्याही लोगों से वैसा निशाना मारा।

यहाँ पर एक बात भी विचारने की बात है कि एक पक्षी को मारनेवाला एकही जीव का हिंसक नहीं है किन्तु अनेक जीवों का हिंसक है, क्योंकि जिस पक्षी की मृत्यु हुई है यदि वह स्त्री जाति है और उसके छोटे २ बच्चे हैं तो वह माँ के मरजाने से जीते नहीं सकते, फिर उन सबके मरजाने से घोर पापकर्म का बन्ध मारने वाले को होगा। इसलिए कर्मबन्धन होनेसे पहिले ही बुद्धिमान् पुरुषों को चेतना चाहिए।

अब दूसरी बात यह रही कि हिंसा न करने पर भी कितनेही लोग जो पक्षियों को पींजरे में बन्द करते हैं उसमें भी भारी कर्म-बन्ध होता है, याने जो लोग जङ्गल से नये २ पक्षियों को पकड़-वाने में हजारों रुपया खर्च करते हैं और उनके खाने पीने के लिए अनर्थ भी करते हैं, उन शौकीन और धनाढ्य लोगों को समझना चाहिए कि पक्षियों की वनविषयक स्वतन्त्रता को भङ्ग करके कैदी की भाँति पींजरे में डालकर और अधर्म को धर्म मानकर जो यह समझते हैं कि हम पक्षियों को दाना चारा अच्छा देते हैं और दूसरों के भय से मुक्त रखते हैं और बाजार में बिकते हुए जीवोंको केवल जीवदयाही से मोल लेकर रक्खा है, सो यह उनका समझना बिल-कुल असत्य है क्योंकि यदि उनको भी कोई उनके कुटुम्ब से अलग

करके बंधन में डालकर अच्छा भी खाना पीना दे तो क्या वे उसे अच्छा मानेंगे ? और जो बाजार में पक्षी बिकने आते हैं उन्हें यदि कोई न खरीदे तो बेचनेवाले कभी नहीं ला सकते; क्योंकि मांसाहारी वैसे २ पक्षियों का मांस प्रायः नहीं खाते हैं । उसमें कारण यह है कि खर्च ज्यादा होकर भी मांस कम मिलता है, इसी लिए जिस देश में पक्षी पालने की चाल नहीं है वहांपर भिन्न २ तरह के लाखों पक्षी रहने पर भी एक भी बाजार में नहीं बिकता, क्योंकि बेचनेवाले को पैसा नहीं मिलता है । गुजरात वगैरह देश में नीच, और दूसरे देशोंसे आए हुए प्रायः करके बावा और फकीर लोग ही पक्षियों को पालते हैं; किन्तु वहां के वासी गृहस्थलोग दयालु होने से पशुशाला में जीवोंको छुड़वा देते हैं । प्रसङ्गवश से यहांपर एक बात यह याद आती है कि समस्त देशों में जिसके कन्या पुत्र नहीं होते हैं वह अनेक देव देवी की मानता करता है और मन्त्र यन्त्र तन्त्रादि का भी प्रयोग करता है तो भी उसके सन्तति नहीं होती है। उसका कारण प्राय: यही है कि पूर्व भव में उसने अज्ञान दशा से किसीके बच्चों को अपने मा बाप से वियोग कराया होगा, या पक्षियों को पींजरे में डाला होगा; इसीलिए उस समय उनके बालकों को दुःख देने से इस भवमें उस पापके उदय होनेसे कितनेही लोगों के पुत्र उत्पन्नही नहीं होता और जिनके होता भी है तो जीता नहीं है। यद्यपि निष्पुत्र लोग पुत्रके लिए संन्यासी, साधु, फकीर वगैरह की पूजा करते हैं; क्योंकि "सेवाधीन सब कुछ है" यह सामान्य न्याय है, यदि किसी समय योगी और फकीर को प्रसन्न देखकर पुत्र प्राप्तिके लिए लोग प्रार्थना भी करते हैं तो यही करते हैं कि "महाराज! एक पुत्र की वांछा है उसकी प्राप्ति के लिए कोई उपाय बतलाइये" लेकिन वैसे योगियों और फकीरों को तत्वज्ञान तो प्रायः रहता ही नहीं है केवल बाह्याडम्बर ज्यादा रहनेसे लाभकी अपेक्षा जिसमें हानि विशेष होती है उसी कार्य को वे प्रायः बतलाते हैं । इसमें दृष्टान्त यह है

कि जैसे- चींटियों के बिल के पास लोग उनके खाने के लिए आटा और चीनी डालते हैं, जिससे विशेष चींटी वहां आ जाती हैं और यही उपाय पुत्रोत्पत्ति का मानते हैं क्योंकि बिचारे भोले लोग धर्म-तत्त्व के अनभिज्ञ कर्मप्रकृति के अविश्वासी लाभालाभ को न विचार कर कितनेही देशोंमे ऐसी क्रिया करते हुए पाये जाते हैं, लेकिन यहाँ पर विशेष विचार का अवसर है कि जब आटा और चीनी डालने से चींटियां बहुतसी इकट्ठी होती हैं तो अगर वह आटा चीनी कोई जीव खा-जायगा तो बहुतसी चींटियों का संहार होजायगा । प्रायः देखने में भी आया है कि पक्षी आटा खाकर चींटियों का संहार कर डालते हैं । यह एक बात हुई, दूसरी यह है कि चींटी संमूर्च्छन जीव होने से बिना माता पिता से भी उत्पन्न होती है, तो आटा और चीनी के मिलने से हवा का संयोग होने पर नयी चींटियां भी उत्पन्न होती हैं, तब उनकी भी हिंसा होती है; इससे स्पष्ट है कि ऐसे कार्य में धर्म की अपेक्षा अधर्म विशेष है । पुत्र-प्राप्तिका उपाय तो परोपकार, शील, सन्तोष, दया, धर्म वगैरह ही है और ऐसेही धर्मकृत्योंके करने से पुत्र की प्राप्ति हो सकती है । लेकिन सपाप क्रिया करने से वैसा फल नहीं मिलता । अत एव जिसमें लाभ की अपेक्षा हानि विशेष हो वह क्रिया नहीं करनी चाहिए । समस्त तत्त्ववेत्ताओंने परोपकार को ही सार माना है और परोपकार जीवदया का पुत्र है, क्योंकि जैसे विना माता के पुत्र का जन्म नहीं होता वैसे ही दया विना परो-पकार नहीं होता है । देखिये इसी परोपकार पर व्यासजी का वचन—

" अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् "॥ १ ॥

अर्थात्–अठारह पुराणों में अनेक बातें रहने पर भी मुख्य दो ही बातें हैं । एक तो परोपकार, जो पुण्य के लिये है और दूसरा (पर पीड़न) दूसरे को दुःख देना, जो पाप के लिए है । अर्थात् परपीडा से अधर्म ही होता है और जीवदया रूप परोपकार होने से पुण्यही होता

है और इसीसे स्वर्ग तथा मोक्ष मिलता है । अब लोकव्यवहार से विरुद्ध, अनुभवसिद्ध शास्त्रद्वारा अहिंसा के स्वरूप का यथावत् दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है–

सकल दर्शनकारों ने हिंसा को अधर्म में परिगणित किया है और सबसे उत्तम दयाधर्म ही माना है, इसमें किसी आस्तिक को भी विवाद नहीं है, तो भी हरएक धर्मवालों को यहां पर शास्त्रीय प्रमाण देनेसे विशेष दृढ़ता होगी, इसलिए हिन्दूमात्र को माननीय मनुस्मृति तथा महाभारत और कूर्मादिपुराणों की साक्षी समय २ पर दी जायगी।

उनमें पहिले मनुस्मृति को देखिये–

" योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते " ॥

निर्णयसागर की छपी म० अ० ५. श्लो० ४५ पृ० १८३

अर्थात्–अहिंसक (निरपराधी) जीवों को जो अपने सुख की इच्छा से मारता है वह जीता हुआ भी मृतप्राय है क्योंकि उसको कहीं सुख नहीं मिलता ।

तथा

" यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते"॥ ४६ ॥

भावार्थ–प्राणियों के वध, बन्ध आदि क्लेशों के करने को जो नहीं चाहता वह सबका शुभेच्छु अत्यन्त सुख रूप स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त होता है ।

और भी देखिये–

" यद् ध्यायति यत् कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन"॥ ४७ ॥

तात्पर्य– जो पुरुष दंश मशकादि सूक्ष्म अथवा बड़े जीवों को नहीं मारता है वह अभिलषित पदार्थ को प्राप्त होता है और जो करना चाहे वही कर सकता है या जहां पुरुषार्थ ध्यानादि में लक्ष्य

चाहे उसे अनायासही पा जाता है अर्थात् अहिंसा करनेवाला प्रतापी पुरुष जो मन में विचारे उसे तुरन्त ही पासकता है ।

और यह भी लिखा है कि–

" नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्" ॥४८॥

भावार्थ-प्राणियों की हिंसा किए विना मांस कहीं पैदा नहीं होता, और प्राणिका वध स्वर्गसुख नहीं देता. इसलिए मांस को सर्वथा त्याग करदेना ही उचित है ॥ और भी वहीं कहा है–

" समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् " ॥ ४९ ॥

तात्पर्य-मांस की उत्पत्ति, और प्राणियों का वध तथा बन्ध को देखकर सर्व प्रकार के मांसभक्षण से मनुष्य को निवृत्त होना चाहिये ।

विवेचन-पूर्वोक्त मनुस्मृति के पञ्चम अध्याय के ४४ से ४९, तक के श्लोकों का रहस्य जाननेवाला कदापि मांसभक्षण नहीं करेगा । क्योंकि सीधा रास्ता छोड़कर विवादास्पद मार्ग में चलने की कोई भी हिम्मत नहीं करेगा । ४९ वें श्लोक में सब मांसों के भक्षण से निवृत्त होने का मनुजी ने उपदेश किया है । इससे विधिपूर्वक मांस खाने से दोष नहीं माननेवालों का पक्ष सर्वथा निर्बल ही है; क्योंकि देवताओं की मांसाहार करने की प्रकृतिही नहीं है । यदि सौ मन मांस देवता के सामने रक्खा जाय तो भी एक छटाँक भी कम नहीं होगा । दस बकराओं को अगर देवता के मन्दिर में रात को रखकर चारो तरफ उस मन्दिर की रक्षा की जाय फिर प्रात काल अगर मन्दिर खोलकर देखा जाय तो उन दस बकरों में से एक भी कम नहीं होगा । इससे यह स्पष्ट होता है कि मांसमात्र के लोभी लोग, विचारे भोले भाले लोगों को भरमाकर नाहक दूसरे के प्राणों का नाश कराते हैं । अपनी जिह्वा की क्षणभर तृप्ति के लिये बिचारे जीवों के जन्म को नष्ट कराते हैं ।

कई एक भक्तलोग देवी के सामने मनौती करते हैं कि " हे

माता जी ! मेरा लड़का यदि अमुक रोग से मुक्त होगा तो मैं आपको एक बकरा चढाऊँगा "। अगर कर्म के योग से बालक के आयुष्य बलसे आरामी हुई तो मानता करनेवाले लोग समझते हैं कि माता जी ने कृपा करके मेरे लड़के का जीवदान दिया, तब खुशी होकर निरपराधी बकरे को बाजे गाजे के साथ भूषित करके देवी के पास लेजाते हैं और वहांपर उसको नहलाकर और फूल चढ़ाकर तथा ब्राह्मणों से स्वर्ग को प्राप्त करानेवाले मन्त्रों को उसके मारने के समय पढ़ाकर बकरे का प्राण निर्दय रीति से निकालते हैं—यहांपर एक कवि का वाक्य याद आता है कि—

" माता पासे बेटा मांगे कर बकरे का साँटा।
अपना पूत खिलावन चाहे पूत दूजे का काटा।
हो दिवानी दुनियां "।

देखिये ! दूसरे के पुत्र को मार कर अपने पुत्र की शान्ति-चाहनेवाली स्वार्थी दुनियां को। यहाँपर ध्यान देना उचित है कि पहिले मानतारूप कल्पना ही झूटी है, अगर मानता से देवी आयुष्य को बढ़ाती होती तो दुनियां में कोई मरता ही नहीं, जो लोग मानता मानते हैं उनसे अगर शपथपूर्वक पूछा जाय तो वह भी अवश्यही यह स्वीकार करेंगे कि सभी मानता हमलोगों की फलीभूत नहीं होतीं। कितनी ही दफे हजारों मानता करने पर भी पुत्रादि मरण को प्राप्त हो होता है। अतएव मानता दोनों प्रकारसे व्यर्थ ही है-क्योंकि रोगी की अगर आयुष्य है तो कभी मरनेवाला नहीं है तब मानना का कोई प्रयोजन नहीं है, और यदि आयुष्य नहीं है तो बचनेवाला नहीं है, तो भी मानता निष्फल है।

और भी विचारिये कि यदि बकरे की लालच से देवी तुम्हारे रोगों को नष्ट करेगी तो वह तुम्हारी चाकरानी ठहरी, अथवा रिश्वत (घूस) लेनेवाली हुई क्योंकि जिससे माल मिले उसका तो भला करे और जिससे न पावे उसका भला न करे। घूस खानेवाले की

दुनियां में कैसी मानमर्यादा होती है सो पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।

महाशय ! माता शब्द का अर्थ पहिले विचारिये कि जो सर्वथा पालन पोषण करती है वही माता कही जाती है और जिसके पास बकरे का बलिदान किया जाता है वह जगदम्बा के नाम से दुनियां में कैसे प्रसिद्ध हो सकती है। क्योंकि जो समस्त जीवोंकी माता है वही जगदम्बा कही जा सकती है; तो समस्त जीवोंके बीचमें बकरा आदि भी (जो बलि दिये जाते हैं) आये उनकी भी तो माता ही ठहरी न ! अब सोचिये कि एक पुत्र को खाकर माता दूसरे को बचावे क्या कभी ऐसा होसकता है ! क्योंकि माताके सभी पुत्र समान ही होते हैं। अज्ञानी लोग स्वार्थान्ध होकर माता की मर्जी से विरुद्ध आचरण करके जीव हिंसा के लिए साहस करते हैं, उसीकारण से इस समय महामारी, हैजा प्लेग आदि महाकष्ट को लोग भोगते हैं। क्योंकि माता हाथ में लाठी लेकर नहीं मारती केवल परोक्ष रीति से मनुष्यों की अनीति का दण्ड देती है। मैंने स्वयं देखा है कि विन्ध्याचल में देवीजी का मन्दिर है, वहां पर हजारों संस्कृत के पण्डित विशेष करके नवरात्र में मिलते हैं और प्रातःकाल से लेकर सन्ध्या समय तक वे लोग समस्त सप्तशती (दुर्गा पाठ) का पाठ करते हैं जिसमें कि दुर्गा की भक्ति की प्रशंसा ही है किन्तु वहां पर अनाथ, निर्नाथ, और गरीब से गरीब बकरे और पाड़े का बलिदान जो देते हैं वह देखकर उनके भक्तों के मन में भी एक दफे शङ्का होती है कि ऐसी हिंसा करके पूजा करना कहां से चला होगा ! माता भी अपने पुत्र के मारने से नाराज होकर हैजा आदि रूपसे उपद्रव करती है तब ब्राह्मण वगैरह भागते हैं और कितनेही लोग बकरे के मार्गानुगामी होते हैं। यह बात बहुत बार लोगों को प्रत्यक्ष देखने में आती है, और स्वयं अनुभव किया जाता है; तथापि पकड़ी हुई गदहे की पूंछ को छोड़तेही नहीं। माता की भक्ति बकरे मारने से

अर्थात् जो पवित्र फल मूलादि तथा नीवारादि के भोजन करने से भी फल नहीं मिलता वह केवल मांसाहार के त्याग करने से ही मिलता है।

"मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः" ॥५५॥

याने जिसका मांस मैं यहां खाता हूं वह मुझको भी जन्मान्तर में अवश्य ही खायगा-ऐसा "मांस" शब्द का अर्थ महात्मा पुरुषों ने कहा है।

विवेचन-५३ वें श्लोक में लिखा है कि, सौ वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ करने से जो फल मिलता है वह फल मांसाहार मात्र के त्याग करने से होता है। हिन्दू शास्त्रानुसार अश्वमेध की विधि करना इस समय बहुत कठिन है, क्योंकि पहिले तो समस्त पृथ्वी जीतना चाहिये, तब अश्वमेध यज्ञ करने का अधिकारी होता है और जिसपर भी लाखों रुपये खर्च होते हैं और इतने पर भी हिंसाजन्य दोष होता ही है ऐसा सांख्यतत्त्वकौमुदी में दिखलाया है-"स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः" अर्थात् स्वल्प, सङ्कर याने दोष सहित यज्ञ का पुण्य है, और सपरिहार याने कितने ही प्रायश्चित्त करके शुद्ध करने के योग्य, तथा सप्रत्यवमर्ष अर्थात् यदि न हो तो पुण्य भोगने के समय हिंसा जन्य पाप भी अवश्य सहना पड़ेगा इत्यादि।

यद्यपि इस विषय में वैदिक धर्म को नहीं मानने वाले के साथ विवाद है तौ भी मनुजी ने मांसाहार त्याग करने से जो फल दिखलाया है वह तो सबके मत में निर्विवाद और अनायाससाध्य होने से सर्वथा स्वीकार करने के योग्य है। ५४ वें श्लोक में लिखा है कि, मुनियों के आचार पालने से जो पुण्य मिलता है वह पुण्य केवल मांसाहार के त्याग करने से ही मिलता है, अर्थात् शुष्क जीर्ण पत्राहारादि से जो लाभ होता है वह लाभ मांसाहार के त्याग करने

से होता है। ऐसे सरल, निर्दोष, निर्विवाद, मार्ग को छोड़कर महा विवादास्पद, पर के प्राणघातक कृत्यों से स्वर्ग को चाहनेवाले पुरुषों को ५५ वें श्लोक पर अवश्य दृष्टि देनी चाहिये। मांस शब्द की निरुक्ति में ऐसा लिखा है कि "मां" माने मुझको खानेवाला "स" माने वह होगा, जिसका मांस मैं खाता हूँ, ऐसा मांस शब्द का अर्थ मनुजी करते हैं; अब मनुजी के वाक्य को मान करके यज्ञादि करने वालों को ध्यान देना चाहिए कि स्वर्ग जाने के लिये बहुत से रास्ते हैं तो फिर समस्त प्रजा के अनुकूल रास्ते से जाना ही सर्वथा ठीक है माने प्रजा वर्ग के प्रतिकूल रास्ते से जाना उचित नहीं है।

पुराणों ने भी प्रकार २ कर हिंसा का निषेध किया है। देखिये व्यासजी ने पुराणों में इस तरह कहा है -

"ज्ञानपालीपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाम्भसि।
स्नात्वातिविमले तीर्थे पापपङ्कापहारिणि" ॥ १ ॥
"ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे दममारुतदीपिते।
असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम्" ॥ २ ॥
"कषायपशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशकैः।
शममन्त्रहुतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः" ॥ ३ ॥
"प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात्" ॥ ४ ॥

अर्थात् ज्ञानरूप पानी से पूर्ण, ब्रह्मचर्य और दयारूप [illegible]

ता है यह श्यामवर्ण सर्प के मुख से अमृत की वृष्टि चाहता है ।

विवेचन–पूर्वोक्त चारों श्लोकों से अहिंसामय यज्ञ को पाठक-गण समझ गये होंगे । इस प्रकार यज्ञ करने से क्या स्वर्ग नहीं मिलेगा ! यदि इस विधि में विश्वास नहीं है तो विवादास्पद सदोष विधि में तो अत्यन्त विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिंसा-जन्य कार्य को वेद के माननेवालों में भी बहुत से विपरीत हैं । देखिये कर्मिमार्गियों के उद्गार–

यथा–

" देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा ।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् "॥१॥

भावार्थ–देव की पूजा के निमित्त या यज्ञ कर्म के निमित्त से जो निर्दय पुरुष प्राणियों को निर्दय होकर मारता है वह घोर दुर्गति में जाता है, अर्थात् दुर्गति को पाता है ।

वेदान्तियों के वचन को सुनो–

" अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे ।
हिंसा नाम भवेद् धर्मो न भूतो न भविष्यति " ॥ १ ॥

भावार्थ–जो हमलोग यज्ञ करते हैं वह अन्धकारमय स्थान में डूबते हैं क्योंकि हिंसा से न कदापि धर्म हुआ और न होगा ऐसे वाक्य अनेक जगह में दिखाई पड़ते हैं । तथापि आग्रह में डूबे हुए पुरुष लाभालाभ का विचार न करके सत्य वस्तु का आदर नहीं करते हैं और न युक्ति को देखते हैं । देखिये व्यासजी ने पाँचवे श्लोक में कहा है कि यदि सर्प के मुख से अमृत वृष्टि होती हो तो हिंसा से भी धर्म हो सकता है– यह व्यासजी का कैसा युक्तियुक्त वाक्य है और युक्तियुक्त वाक्य किसीका भी हो तो उसके स्वीकार करने को सज्जन लोग तैयार होते हैं; फिर व्यास ऐसे ऋषि के वाक्य को कौन नहीं मानेगा ! ।

मनुजी ने ५३-५४-५५ वें श्लोक में जो अहिंसा मार्ग दिखलाया है वह समस्त मनुष्यों के माननेयोग्य है क्योंकि अहिंसा ही सब कल्याणों को देने वाली है, इस विषय में जैनाचार्यों के वाक्यामृत को देखिये--

" क्रीडाभूः सुकृतस्य दुष्कृतरजःसंहारवात्या भवो-
दन्वन्नौर्व्यसनाग्निमेघपटली संकेतदूती श्रियाम् ।
निःश्रेणिस्त्रिदिवौकसः प्रियसखी मुक्तेः कुगत्यर्गला
सत्त्वेषु क्रियतां कृपैव भवतु क्लेशैरशेषैः परैः "॥ १॥

भावार्थ-प्राणियों में दयाही करनी चाहिये, दूसरे क्लेशों से कुछ प्रयोजन नहीं है । क्योंकि सुकृत के क्रीड़ा करने का स्थान अहिंसा है अर्थात् अहिंसा सुकृत को पालन करनेवाली है और दुष्कृतरूप धूली को उड़ाने के लिये वायु समान है, संसाररूपी समुद्र के तरने के लिये नौकासमान है, और व्यसनरूप दावाग्नि के शान्त करनेके लिये मेघकी घटा के तुल्य, तथा लक्ष्मी के लिये संकेतदूती है; अर्थात् जैसे दूती स्त्री या पुरुष को परस्पर मिला देती है वैसेही पुरुष का और लक्ष्मी का मेल अहिंसा करा देती है और स्वर्ग में चढ़ने के लिये सोपानपङ्क्ति है, तथा मुक्ति की प्रियसखी कुगति के रोकने के लिये अर्गला अहिंसा ही है ।

विवेचन-अहिंसा ही समस्त अभीष्ट वस्तुओं को देनेवाली है इस पर किसी २ को यह शङ्का उत्पन्न होगी कि ब्रह्मचर्यपालन, परोपकार, सन्तोष, ध्यान, तप, आदि धर्म, शास्त्र में जो कहे हुए हैं वह व्यर्थ हो जायँगे क्योंकि केवल दया करनेही की सूचना की गई है और अन्य क्रमों की मनाही की है । उसके उत्तर में समझना चाहिए कि जिसके हृदय में अहिंसा देवी का थोड़ा बहुत प्रतिबिम्ब पड़ा हुआ है उसके हृदय मन्दिर में ब्रह्मचर्य, परोपकार सन्तोष, दान, ध्यान, तप, आदि समस्त गुणों की श्रेणी बैठी हुई है,

अगर न हो तो दया देवी निरुपद्रव रह हो नहीं सकती। अहिंसारूप सुन्दर बगीचे में दान, शील, तप, भावादि क्यारियाँ सुशोभित हैं। और कारुण्य, मैत्री, प्रमोद, और माध्यस्थ्य, ये चार प्रकार की भावनारूप नाली से शान्तिरूप जल इधर उधर बहता है। तथा दीर्घायुष्य, श्रेष्ठशरीर, उत्तमगोत्र, पुष्कल द्रव्य, अत्यन्त बल, ठकुराई, आरोग्य, अत्युत्तम कीर्तिआदि वृक्षों की पङ्क्ति चकोर कर रही है, और विवेक, विनय, विद्या, सद्विचार आदि की लता और सुन्दर पत्रपङ्क्तियाँ प्रफुल्लित होकर फैल रही हैं, तथा परोपकार, ज्ञान, ध्यान, तप, जपादि रूप पुष्पपुञ्ज भव्यजीवों को आनन्दित कर रहा है, एवं स्वर्ग, अपवर्ग रूप अविनश्वर फलों का सुपुष्टित मुनि आस्वादन कर रहे हैं; ऐसे अहिंसारूप अमूल्य बगीचे की रक्षा के लिये, मृषावाद-परिहार अदत्तादान-परिहार, ब्रह्मचर्य-सेवा, परिग्रह-त्याग रूप अटल अभेद्य (काम क्रोधादि अनादिकाल के अपने शत्रुओं से दुर्लङ्घ्य) किले की आवश्यकता है। विना मर्यादा कोई चीज नहीं रह सकती, अत एव अहिंसारूप अत्युपयोगी बगीचे के बचाने के लिये समस्त धर्मवाले न्यूनाधिक ध्यान सन्ध्याऽऽदि धर्मकृत्यों को करते हैं, यह बात सर्वथा माननीय है यदि इस बात के न मानने वाले को नास्तिक कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं है। जीवहिंसा के समान दूसरा कोई पाप नहीं है और दया के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। इसलिये हिंसा से कभी धर्म नहीं होता, इसके लिये कहा है कि-

" यदि ग्रावा तोये तरति तरणिर्यद्युदयते
प्रतीच्यां सप्तार्चिर्यदि भजति शैत्यं कथमपि ।
यदि क्ष्मापीठं स्यादुपरि सकलस्यापि जगतः
प्रसूते सत्त्वानां तदपि न वधः क्वापि सुकृतम् " ॥ १ ॥

भावार्थ-यद्यपि जल में पत्थर तैरता नहीं है, यदि वह भी किसी प्रकार तैरे; और सूर्य पश्चिमदिशा में उदय नहीं होता, यदि वह भी किसी प्रकार उदय हो, और अग्नि कदापि शीतल नहीं

" इत एकनवति कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ! " ॥ १ ॥

अर्थात् इस भव से एकानवे कल्प में मैंने शक्ति से पुरुष को मारा था, उससे उत्पन्न हुए पाप कर्म के विपाक से, हे साधुजन ! मै कण्टक से पाद में विद्ध हुआ हूँ । किये हुए कर्म, भवान्तर में भोगनेही पड़ते हैं; " यादशं क्रियते कर्म तादृशं प्राप्यते फलम् " याने जैसा कर्म किया जाता है वैसाही फल मिलता है, कर्म को किसीका भी लिहाज नहीं है पशुमारनेवाला जरूर पाप का भागी-होता है और नरक जाता है ।

यथा-

" यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत ।।
तावद्वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातकाः " ॥ १ ॥

भावार्थ-हे भारत ! पशु के शरीर में जितने रोम है उतने हजार वर्ष पशु के घातक नरक में आकर दुःख भोगते है । याने स्वकृत-कर्मानुसार ताड़न, तर्जन, छेदन, भेदनादि क्रिया को सहते हैं । ऐसे स्पष्ट लेख रहने पर भी हिंसा में धर्म मानने वाले मनुष्य, महानुभाव भद्रलोगों को भ्रम में डालने के लिये कुयुक्ति देते हैं कि विधिपूर्वक मांस खाने से स्वर्ग होता है इतनी आज्ञा देने से अविधि से मांसखानेवाले लोग भय से रुक जावेंगे और हिंसा भी नियमित ही होगी, इत्यादि कुत्सित विचारों के उत्तर में समझना चाहिए कि अविधि से मांस खानेवाले तो अपने आत्मा की निन्दा करेंगे और पश्चात्ताप करेंगे, क्योंकि आत्मा का स्वभाव मांस खानेका नहीं है किन्तु विधिपूर्वक मांस खानेवाले पश्चात्ताप नहीं करते बल्कि धर्म मानकर प्रसन्न होते हैं, तथा एक दफे मांस का स्वाद लेने से समय २ पर देवपूजा के व्याज से उदर की पूजा करेंगे और हिंसा के निषेध करनेवालों के सामने विवाद करने को तैयार होंगे । तो सोचिये कि यह अनर्थ होगा कि लाभ होगा ? इस बात का विचार

" इत एकनवति कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ! " ॥ १ ॥

अर्थात् इस भव से एकानवे कल्प में मैंने शक्ति से पुरुष को मारा था, उससे उत्पन्न हुए पाप कर्म के विपाक से, हे साधुजन ! मैं कण्टक से पाद में बिद्ध हुआ हूँ । किये हुए कर्म, भवान्तर में भोगने ही पड़ते हैं; " यादृशं क्रियते कर्म तादृशं प्राप्यते फलम् " याने जैसा कर्म किया जाता है वैसाही फल मिलता है, कर्म को किसीका भी लिहाज नहीं है पशुमारनेवाला जरूर पाप का भागी होता है और नरक जाता है ।

यथा–

" यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत ! ।
तावद्वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातकाः " ॥ १ ॥

भावार्थ-हे भारत ! पशु के शरीर में जितने रोम हैं उतने हजार वर्ष पशु के घातक नरक में जाकर दुःख भोगते हैं । याने स्वकृत-कर्मानुसार ताड़न, तर्जन, छेदन, भेदनादि क्रिया को सहते हैं । ऐसे स्पष्ट लेख रहने पर भी हिंसा में धर्म मानने वाले मनुष्य, महानुभाव भद्रलोगों को भ्रम में डालने के लिये कुयुक्ति देते हैं कि विधिपूर्वक मांस खाने से स्वर्ग होता है इतनी आज्ञा देने से अविधि से मांसखानेवाले लोग भय से रुक जावेंगे और हिंसा भी नियमित ही होगी, इत्यादि कुत्सित विचारों के उत्तर में समझना चाहिए कि अविधि से मांस खानेवाले तो अपने आत्मा की निन्दा करेंगे और पश्चात्ताप करेंगे, क्योंकि आत्मा का स्वभाव मांस खानेका नहीं है किन्तु विधिपूर्वक मांस खानेवाले पश्चात्ताप नहीं करते बल्कि धर्म मानकर प्रसन्न होते हैं, तथा एक दफे मांस का स्वाद लेने से समय २ पर देवपूजा के व्याज से उदर की पूजा करेंगे और हिंसा के निषेध करनेवालों के सामने विवाद करने को तैयार होंगे । सोचिये कि यह अनर्थ होगा कि लाभ होगा ! इस बात का वि

दिन रहते हैं, किन्तु नदी वर्षा के अभाव में यदि शुष्क हो जावे तो उसके आधार से उत्पन्न हुए संपूर्ण वनस्पति नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही दयारूप नदीके अभावमें धर्मरूप अङ्कुर स्थिर नहीं रह सकते। नीतिशास्त्रकार ने भी दया की मुख्यता दिखलाई है।

यथा–

"यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।
तथैव धर्मो विदुषा परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन तपोदयागुणैः"॥१॥

अर्थात् जैसे निघर्षण (कसौटी पर कसना) तथा छेदन (काटने), ताप (तपाने), ताडन (पीटने) आदि से सुवर्ण परीक्षित होता है वैसेही शास्त्र, शील, तप, दया आदि गुणों से विद्वान् पुरुष धर्म की परीक्षा करते हैं।

विवेचन–जब सुवर्ण के चपल और विनश्वर वस्तु रहने पर भी बुद्धिमान् उसकी परीक्षा करनेको नहीं चूकते, तो यदि अविनश्वर अचल, अनुपम सुख को देनेवाले धर्मरत्न की परीक्षा करें तो इसमें आश्चर्यही क्या है ? जैसे सुवर्णकी परीक्षा के लिये निघर्षणादि पूर्वोक्त चार प्रकार दिखलाये गये हैं वैसेही धर्मरत्न की परीक्षा के लिये श्रुत, शील, तप और दया दिखलाई हैं; जिस शास्त्र में परस्पर विरुद्ध बात न हो किन्तु युक्तियुक्त पदार्थोंकी व्याख्या हो, तथा परोपकारादि गुणों का वर्णन हो वह शास्त्र प्रामाणिक मानना चाहिए। शील याने ब्रह्मचर्य अथवा आचार के पालने की आवश्यकता को सहेतुक जानने वालाही ब्रह्मचर्यपालनेवाला गिना जाता है, और ब्रह्मचर्य पालन का मूल कारण जीवदयाही है। क्योंकि कामशास्त्रकार वात्स्यायन ने स्वशास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि स्त्री की योनि में असंख्य कीड़े उत्पन्न होते हैं इसीसे उनको पुरुषसेवन करनेकी उत्कट इच्छा होती है और जैनशास्त्रकार तो स्त्री-योनिगत वीर्य और रुधिर में असंख्य जीवकी उत्पत्ति मानते हैं, इसलिये गर्भज ९ लाख जीव एक बार मैथुन करने से मरजाते हैं और द्वीन्द्रियादि जीवों के मारनेकी

दृष्टि दी जाय तो और भी विशेष स्पष्ट होगा। देखिये किसीकी बहिन या स्त्री पर कुदृष्टि करने से जो दुःख होता है उसका विवेचन करना असंभव है और दुःख देना ही अहिंसा का स्वरूप है। अतएव ब्रह्मचर्य पालन अहिंसा के लिये है और उस ब्रह्मचर्य को ही शील कहते है। अथवा शील से सदाचार भी लिया जाता है और जिसके पालने में किसीको बाधा न हो यही सदाचार कहलाता है; अतएव सदाचार सबका उपकारक ही होता है क्योंकि उससे किसीका भी अपकार नहीं होता।

यथा–

"लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः" ॥ १ ॥

भावार्थ–प्रामाणिक लोगों के अपवाद से डरना, और दीनों के उद्धार में आदर करना, तथा आदर किये हुए गुणों को जानना तथा सुन्दर दाक्षिण्य को सदाचार कहते है, ऐसे सुन्दर आचार को ही शील कहते हैं; तथा जिसके आचरण से इन्द्रियों का निग्रह होता है उसे तप कहते हैं, अर्थात् कषायों की शान्ति और सर्वथा आहार का त्याग तप है।

यथा–

"कषायविषयाऽऽहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः" ॥ १ ॥

अर्थात्–क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेषादि कषाय और पंचेन्द्रिय के विषयों का जिसमें त्याग है उसीको उपवास कहना चाहिए, इससे अतिरिक्त तपस्या को तत्त्ववेत्ता लोग लङ्घन कहते है।

लेकिन बहुतोंको देखकर आश्चर्य होता है कि दशमी के रोज खान पान में भार आने से उनका कार्य सिद्ध होता है किन्तु एकादशी के रोज आठ आने का माल उड़ जाता है तो भी उपवास ही कहा जाता है यह क्या कोई उपवास (तप) है ? जिन

तप से कर्मों का नाश हो उसी का नाम तप है । मन, वचन और शरीर से किसी जीव की हानि नहीं करना किन्तु समस्त जीवों को अपने समान ही मानने को दया कहते हैं; क्योंकि जैसे अपने शरीर में फोड़ा होने से वेदना का अनुभव होता है और उसके हजारों उपचार करने का प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही अन्य के लिये उपचार करना सर्वथा पण्डितों को उचित है क्योंकि अन्यजीवों पर जो दया नहीं करता वह कदापि पण्डित नहीं कहलाता है ।

यथा–

"आत्मवत् सर्वभूतेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
मातृवत् परदारेषु यः पश्यति स पण्डितः (यः पश्यति स पश्यति)"१

भावार्थ–जो पुरुष सब प्राणियों में अपनी आत्मा के समान बर्ताव करता है और दूसरे के द्रव्य में पत्थर के समान बुद्धि करता है तथा परस्त्री को माता की तरह देखता है वही पण्डित है, अथवा वही नेत्रवाला है।

इसलिये पूर्वोक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि सब प्रकार जीवों को शान्ति देनीही दया है । और पूर्वोक्त शास्त्र, शील, तप, दया जिसमें हो उसे धर्मरत्न जानना चाहिए । इससे भिन्न कोई धर्म नहीं है किन्तु इससे भिन्न जो कुछ होगा वह भद्रिक जीवों को भ-मजालमें फँसानेवाला ही होगा । इसी कारण से नीतिकार श्लोकरत्नों को सुवर्णवत् में छेद करके परीक्षा करने के लिये प्रेरणा करते हैं, तथापि वर्तमान कालके मनुष्य पक्षपातग्रसित होकर विचार नहीं करते, किन्तु विशुद्ध और निर्मल अहिंसा धर्मका अनादर करके हिंसा करने में कुयुक्तियों का उपयोग करते हैं । वस्तुतः अहिंसादि सामान्य धर्म समस्त दर्शनानुयायियों को सम्मत है ।

यथा–

"पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम् ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम्" ॥ १ ॥

अर्थ–अहिंसा, सत्य, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन,

और सर्वथा परिग्रह याने मूर्छा का त्याग, ये पांच पवित्र महाव्रत समस्त दर्शनानुयायी महापुरुषों को बहुमानपूर्वक माननीय हैं, अर्थात् संन्यासी, स्नातक, नीलपट, वेदान्ती, मीमांसक, सांख्यवेत्ता, बौद्ध, शाक्त, शैव, पाशुपत, कालामुखी, जङ्गम, कापालिक, शाम्भव, भागवत, नग्नव्रत, जटिल आदि आधुनिक तथा प्राचीन समस्त मतवालों ने यम, नियम, व्रत, महाव्रतादि के नाम से मान दिया है और देते भी हैं। तथा इस विषय में पुराणों की साक्षी भी इस तरह देते हैं-

महाभारतीय शान्तिपर्व के प्रथम पाद में लिखा है कि-

"सर्वे वेदा न तत् कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत।।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च, यत् कुर्यात् प्राणिनां दया"॥१॥

भावार्थ—हे अर्जुन! जो प्राणियों की दया फल देती है वह फल चारों वेद नहीं देते और न समस्त यज्ञ देते हैं तथा सर्वतीर्थों के स्नान वन्दन भी वह फल नहीं दे सकते हैं।

और यह भी कहा है-

"अहिंसालक्षणो धर्मो ह्यधर्मः प्राणिनां वधः।
तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोकैः कर्तव्या प्राणिनां दया"॥१॥

अर्थात् दया ही धर्म है और प्राणियों का वध ही अधर्म है, इस कारण से धार्मिक पुरुषों को सर्वदा दया ही करनी चाहिए। क्योंकि विष्ठा के कीड़े से लेकर इन्द्र तक सबको जीविताशा और मरणभय समान है। और भी देखिये-

"अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये।
समाना जीविताऽऽकांक्षा तुल्यं मृत्युभयं द्वयोः"॥१॥

इसका भावार्थ स्पष्ट ही है।

अब जैनशास्त्र के प्रमाण से दशवैकालिक का यथार्थ वचन दिखलाया जाता है-

"सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।

तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं" ॥१॥

भावार्थ–समस्त जीव जीने ही की इच्छा करते हैं किन्तु मरने की कोई भी इच्छा नहीं करता, अतएव प्राणियों का वध घोर पातक होने से साधुलोग उसका निषेध (त्याग) करते हैं। इस बात को दृढ़ करते हुए तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि–

"दीयते म्रियमाणस्य कोटिर्जीवित एव वा।
धनकोटिं परित्यज्य जीवो जीवितुमिच्छति" ॥१॥

अर्थात्–अगर मरते हुए जीव को कोई आदमी करोड़ अशर्फी दे और कोई मनुष्य केवल जीवन दे तो अशर्फियों की लालच को छोड़ वह जीवन की ही इच्छा करेगा क्योंकि स्वभाव से जीवों को प्राणों से प्यारी और कोई वस्तु नहीं है। इस बात को सिद्ध करने के लिये यह दृष्टान्त है–

एक समय राजसभा में बुद्धिमान पुरुषों ने परस्पर विचार कर यह निश्चय किया कि प्राण से बढ़कर कोई चीज नहीं है, इस बात को सुनकर राजा ने परीक्षा करने के लिये चार पुरुषों को बुलाकर और हर एक के हाथ में तेल से भरा हुआ कटोरा देकर आज्ञा दी कि तुम सब लोग कटोरे को ले करके शहर के किले की चारों तरफ परिक्रमा करो किन्तु पात्र से रास्ते में एक भी बूँद तेल का न गिरे अगर गिरेगा तो पहिले को दशहजार अशर्फियों का दण्ड होगा, और दूसरे को पचास हजार, तथा तीसरे को लाख और चौथे को कहा कि तुम्हारी जान ही ले ली जायगी। इस राजा की आज्ञा को सुनकर चारों आदमी चले, किन्तु कटोरों के भरपूर होने से कुछ न कुछ गिरने का सम्भव था ही, इसलिये वे लोग धीरे २ बहुत ही सम्हल कर चले किन्तु ऐसा करने पर भी पहिले और दूसरे के चारों तरफ पहुँचने पर कितनी ही बूँदें गिरीं, तीसरे में अन्त में थोड़ी कुछ बूँदें गिरीं, लेकिन जिसको यह कहा गया था कि तुम्हारी जान ही ले ली जायगी उससे तो एक बूँद भी नहीं

गिरी। क्योंकि उसने मन, वचन और काया की एकाग्रता से काम किया था; अर्थात् जैसा भरा पुरा कटोरा उसने राजा के पास से उठाया था वैसा ही पहुँचा दिया। इसलिये राजा देखकर चकित हुआ कि अहो! देव से भी दुर्लभ कार्य जीविताशा से हो सकता है। इसलिये निश्चय से जीविताशा को नाश करनेवाले पुरुष महापापी हैं, और अभयदान देनेवाला महादानी शास्त्र में कहा गया है–

यथा–

"महतामपि दानानां कालेन क्षीयते फलम्।
भीताभयप्रदानस्य क्षय एव न विद्यते" ॥१॥

"कपिलानां सहस्राणि यो विप्रेभ्यः प्रयच्छति।
एकस्य जीवितं दद्यात् न च तुल्यं युधिष्ठिर!" ॥२॥

"दत्तमिष्टं तपस्तप्तं तीर्थसेवा तथा श्रुतम्।
सर्वेऽप्यभयदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्" ॥ ३ ॥

"नातो भूयस्तपो धर्मः कश्चिदन्योऽस्ति भूतले।
प्राणिनां भयभीतानामभयं यत् प्रदीयते" ॥ ४ ॥

"वरमेकस्य सत्त्वस्य दत्ता ह्यभयदक्षिणा।
न तु विप्रसहस्रेभ्यो गोसहस्रमलङ्कृतम्" ॥५॥

"हेमधेनुधरादीनां दातारः सुलभा भुवि।
दुर्लभः पुरुषो लोके यः प्राणिष्वभयप्रदः" ॥६॥

"यथा मे न प्रियो मृत्युः सर्वेषां प्राणिनां तथा।
तस्माद् मृत्युभयात्त्रस्तं त्रातव्याः प्राणिनो बुधैः" ॥७॥

"एकतः क्रतवः सर्वे समग्रवरदक्षिणाः।
एकतो भयभीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम्" ॥ ८ ॥

"एकतः काञ्चनो मेरुर्बहुरत्ना वसुन्धरा।
एकतो भयभीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम्" ॥ ९ ॥

भावार्थ–बड़े से भी बड़े दान का फल कुछ काल में क्षीण हो जाता है, किन्तु डरे हुए प्राणी को अभय देने से जो फल उत्पन्न होता

कुछ खर्च नहीं पड़ता है, केवल मन में दयाभाव रखकर छोटे बड़े सभी जीवों की यथाशक्ति रक्षा तथा क्रूरता का सर्वथा त्याग करना चाहिये; और अपने सुख के लिये अन्य जीवोंका प्राण लेना किसीको उचित नहीं है, इसीसे लिखा हुआ है कि—

"न गोप्रदानं न महीप्रदानं नाऽन्नप्रदानं हि तथा प्रधानम् ।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम्"॥२९८॥

पृ ७७ पद्मपुराण।

अर्थात् विद्वान् लोग संपूर्ण दानों में जैसा अभयदान को उत्तम मानते हैं वैसा गोदान, पृथ्वीदान और अन्नदान आदि किसी को भी प्रधान नहीं मानते हैं।

कितने ही अज्ञानी जीव बिना विचारे ही मच्छर, डाँस खटमल, जूँआ, वगैरह छोटे २ जीवों को स्वभाव से ही मार डालते हैं, और बहुत से तो घोड़े के बाल की मूरछल से, या हाथ से, या घर में धूआँ करके, या गरम जल मे खटमल आदि जीवों को मारते हैं, परन्तु यदि कोई उनको समझावे तो वे ऊटपटांग जवाब देकर अपना बचाव करने का यत्न करते हैं, लेकिन वस्तुतः वैसे जीवों के मारने से भी बहुत पाप होता है। इस विषय को दृढ़ करानेवाला वाराह पुराण का श्लोक देखिये—

"जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजानि कदाचन ।
ये न हिंसन्ति भूतानि शुद्धात्मानो दयापराः" ॥ ८ ॥

१२२ अ ५१२ पृ

भावार्थ-मनुष्य, गौ, भैंस बकरी वगैरह और अण्डज अर्थात् सब प्रकार के पक्षी, उद्भिज्ज याने वनस्पति, और स्वेदज याने खटमल, मच्छर, डांस, जूआँ, लीख वगैरह समस्त जन्तुओं की जो पुरुष हिंसा नहीं करते हैं वेही शुद्धात्मा, और दयापरायण सर्वोत्तम हैं।

विवेचन-पूर्वोक्त श्लोक से स्पष्ट हुआ कि सबकी रक्षा करनी चाहिये, यानें किसी जीव को किसी प्रकार से म... उचित नहीं है।

खटमल, मच्छर, मच्छी, जूआँ वगैरह पहिले तो मनुष्य पसीने और गन्दगी से पैदा होते हैं, किन्तु पीछे वे अपने २ पूर्व के खून से उत्पन्न होते हैं । परन्तु जहां कहीं वैसे जीव मरते हैं वहां पर पहिले से दूने बल्कि चौगुने उत्पन्न होते हैं अत एव उनके मारना लाभदायक न होकर हानिकारकही है; यद्यपि वे जीव अपने काल पूरा करके स्वयं मरेंगे तथापि उनको मारना नहीं चाहिये क्योंकि अभयदान जैसा उत्तम है वैसा कोई भी उत्तम धर्म नहीं है यह बात पूर्वोक्त श्लोकसे स्पष्ट हो ही चुकी है । इसलिये जब कोई जीव अपने शरीर पर बैठे तो उसे कपड़े से सहज में हटादेना चाहिए; और जमीन को भी जहाँ तक बनसके देख देख कर चलना चाहिए जिससे कोई जीव मरने न पावे । यदि किसी को द्रव्य कुछ भी खर्च न करके धर्म करने की इच्छा हो तो उसके लिये अहिंसा धर्म के सिवाय कोई दूसरा धर्म नहीं है । इसीसे श्रीमद्भगवद्गीता में भी दैवीसम्पत् और आसुरीसंपत् जो दिखलाई गई हैं, उनमें दैवीसम्पत् तो मोक्ष को देनेवाली है, और आसुरीसम्पत् केवल दुर्गति का कारण है । और दैवीसंपत् में भी केवल अभयदान को ही मुख्य रक्खा है।

यथा-

" अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् " ॥ १ ॥
" अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् " ॥ २ ॥
" तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत !" ॥ ३ ॥

गीता अ० १६

भावार्थ- अभय याने भयका अभाव १, सत्त्वसंशुद्धि चित्तशुद्धि, या चित्तप्रसन्नता २, आत्मज्ञान प्राप्त करने के उपाय में श्रद्धा की ज्ञानयोगव्यवस्थिति है ३, और अपने मांगने की वस्तु में से यथोचित याचक को देने को दान कहते हैं ४, बाह्येन्द्रियों को विषय से रोकना ही दम कहलाता है ५, तथा ईश्वर की पूजा रूप ही यज्ञ है कि यज्ञ का यह अर्थ भगवद्गीता के पृ. २७ कर्मयोग नामक तीसरे अध्याय में २१ वीं श्लोक की टिप्पणी लिख दिया है, कि—"यज्ञार्था-त्कर्मणः"-अर्थात् ईश्वरार्थ कर्म के स्वीकार से।

अत एव यहां पर भी यही अर्थ घटता है, क्योंकि अन्य यज्ञ हिंसामय होने से अभय, अहिंसा, दया आदि वस्तु दूषण रू-प बताई गई है। यदि यहां पर हिंसामय यज्ञ का कथन होता तो श्रीभगवान् के कारण जो लक्षण गिनाये हैं, उनमें परस्पर विरुद्धता हो जाता, अत एव यज्ञ का अर्थ यहां पर ईश्वर पूजा से अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता है ६, सत्यविद्या का पाठ ही स्वाध्याय है ७, तप तीन प्रकार का है, वह पृ. ९४ अध्याय १७ के में कहा

विवेचन-पूर्वोक्त श्लोक में स्पष्ट हुआ कि समस्त जीवों की रक्षा करनी चाहिये, याने किसी जीव को किसी प्रकार से भी मारना उचित नहीं है।

खटमल, मच्छर, मक्खी, जूँ वगैरह पहिले तो मनुष्य के पसीने और गन्दगी से पैदा होते हैं, किन्तु पीछे वे अपने २ पूर्वजों के खून से उत्पन्न होते हैं। परन्तु जहां कहीं ऐसे जीव मरते हैं वहां पर पहिले से दूने बल्कि चौगुने उत्पन्न होते हैं अत एव उनको मारना लाभदायक न होकर हानिकारकही है; यद्यपि वे जीव अपना२ काल पूरा करके स्वयं मरेंगे तथापि उनको मारना नहीं चाहिये क्योंकि अभयदान जैसा उत्तम है वैसा कोई भी उत्तम धर्म नहीं है यह बात पूर्वोक्त श्लोकमें स्पष्ट हो ही चुकी है। इसलिये जब कोई जीव अपने शरीर पर बैठे तो उसे कपड़े से सहज में हटादेना चाहिए; और जमीन को भी जहाँ तक बनसके देख देख कर चलना चाहिए जिससे कोई जीव मरने न पावे। यदि किसी को द्रव्य कुछ भी खर्च न करके धर्म करने की इच्छा हो तो उसके लिये अहिंसा धर्म के सिवाय कोई दूसरा धर्म नहीं है। इसीसे श्रीमद्भगवद्गीता में भी दैवीसम्पत् और आसुरीसंपत् जो दिखलाई गई हैं, उनमें दैवी-सम्पत् तो मोक्ष को देनेवाली है, और आसुरीसम्पत् केवल दुर्गति का कारण है। और दैवीसंपत् में भी केवल अभयदान को ही मुख्य रक्खा है।

यथा–

" अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् " ॥ १ ॥
" अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् " ॥ २ ॥
क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाऽतिमानिता।

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ! " ॥ ३ ॥

गीता अ० १६

भावार्थ–अभय याने भयका अभाव १, सत्त्वसंशुद्धि चित्तसंशुद्धि, अर्थात् चित्तप्रसन्नता २, आत्मज्ञान प्राप्त करने के उपाय में श्रद्धा ही ज्ञानयोगव्यवस्थिति है ३, और अपने भोगने की वस्तु में से यथोचित अभ्यागत को देने को दान कहते हैं ४, बाह्येन्द्रियों को नियम में रखना ही दम कहलाता है ५, तथा ईश्वर की पूजा रूप ही यज्ञ है क्योंकि यज्ञ का यह अर्थ भगवद्गीता के पृ. २७ कर्मयोग नामक तीसरे अध्याय में ९ वें श्लोक पहिलेही लिख दिया है, कि–"यज्ञार्थात् कर्म"–अर्थात् ईश्वरार्थ कर्म के स्वीकार से ।

अत एव यहां पर भी यही अर्थ घटता है, क्योंकि अन्य यज्ञ के हिंसामय होने से अभय, अहिंसा, दया तीनों वस्तु पृथक् २ दिखलाई गई हैं । यदि यहां पर हिंसामय यज्ञ का कथन होता तो दैवीसंपत् के कारण जो छब्बीस गिनाये हैं, उनमें परस्पर विरुद्ध भाव हो जाता, अत एव यज्ञ का अर्थ यहां पर ईश्वर पूजा से अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता है ६, तत्त्वविद्या का पाठ ही स्वाध्याय है ७; तप तीन प्रकार का है, यह पृ. ९४ अध्याय १७ वें में कहा है कि–

"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते " ॥१४॥
"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते " ॥१५॥
"मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते " ॥१६॥

भावार्थ– देव, ब्राह्मण, गुरु और पण्डित की पूजा, शौच-अन्तःकरणशुद्धि, सरलता ब्रह्मचर्य, अहिंसारूपही शरीर का तप

धर्म नहीं है। देखिये-मनुस्मृति, वाराहपुराण, कूर्मपुराणादि में तो हिंसा करनेवाले को प्रायश्चित्त दिखलाया है; इसलिये भव्यजीवों को उस प्रायश्चित्त का भागी नहीं बननाही श्रेष्ठ है; क्योंकि " प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् " अर्थात् कीचड़ में पहिले पैर डालकर पीछे धोने की अपेक्षा उसमें पहिलेही से पैर नहीं डालना अच्छा है। यदि ऐसे महावाक्यों पर ध्यान दिया जाय तो कदापि प्रायश्चित्त लेने का समय ही न आवे। मनुस्मृति के ११ वें अध्याय का ४४८ वाँ पृष्ठ देखिये।

यथा-

" अभोज्यानां तु भुक्त्वाऽन्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च।
जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान् पिबेत्" ॥१५९॥

भावार्थ-जिसका अन्न खानेलायक नहीं है जैसे चमार आदि शूद्रों का अन्न खाकर, और स्त्री तथा शूद्र का जूँठा खाकर, तथा सर्वदा अभक्ष्यही याने नहीं खानेलायक मांस को खाकर शुद्ध होना अगर चाहे तो सात दिन तक यव का पानी पीना चाहिये; इत्यादि।

विवेचन-प्रायश्चित्त विधि में मांस खानेसे प्रायश्चित्त भी दिखलाया है, तो भी हिंसा से लोग क्यों नहीं डरते हैं! विधिविहित मांस खाने में दोष न माननेवालों को देखना चाहिये कि श्रीमद्भागवतीय चतुर्थ स्कन्ध के २५ वें अध्याय में-प्राचीनबर्हिष राजा ने नारद जी से पूछा कि मेरा मन स्थिर क्यों नहीं रहता है? तब नारदजी ने योगबल से देखकर कहा कि आपने जो प्राणियों के वधवाले बहुत से यज्ञ किये हैं इसीसे आपका चित्त स्थिर नहीं रहता है। ऐसा कहकर योगबल से राजा को यज्ञमें मारे हुए पशुओंका दृश्य आकाश में दिखलाया और नारदजी ने कहा कि हे राजन्! दयारहित होकर हजारों पशुओं को यज्ञ में जो तुमने मारा है वे पशु इस समय क्रुद्ध होकर यह रास्ता देख रहे हैं कि राजा मरकर कब आवे और

हम लोग उसको अस्त्रों से काट कर फ़र अपना बदला चुकावें। देखिये श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में–

"भो भोः! प्रजापते! राजन्! पशून् पश्य त्वयाऽध्वरे।
संज्ञापितान् जीवसङ्घान् निर्घृणेन सहस्रशः" ॥ ७ ॥
"एते त्वां संप्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव।
संपरेतमयः कूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः" ॥ ८ ॥

इन दोनों श्लोकों का भावार्थ ऊपरही स्पष्ट हो चुका है।

इसके बाद प्राचीनबर्हिष राजा भयभीत होकर नारद के चरण पर गिर पड़ा और कहने लगा कि हे भगवन्! अब मैं हिंसा नहीं करूंगा किन्तु मेरा उद्धार कीजिये। तब नारदजी ने ईश्वरभजनादि शुभकृत्यों को बतला कर उसका उद्धार किया; यह बात श्रीमद्भागवत में लिखी है। इस स्थल में विशेष न लिखकर श्रीमद्भागवत के चतुर्थस्कन्ध को देखजाने का मैं अनुरोध करता हूँ। यज्ञ में हिंसा करने का निषेध महाभारत शान्तिपर्व के मोक्षाधिकार में अध्याय २७२ पृष्ठ १५४ में लिखा है। यथा–

"तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसाऽऽत्मनस्तदा।
तपो महत् समुच्छिन्नं तस्माद् हिंसा न यज्ञिया" ॥१८॥
"अहिंसा सकलो धर्मोऽहिंसाधर्मस्तथा हितः।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि नो धर्मः सत्यवादिनाम्" ॥२०॥

भावार्थ– मृग के अनुभाव से एक मुनि ने मृग की हिंसा की, तब उस मुनि का जन्मभर का बड़ा भारी तप नष्ट होगया, अतएव हिंसा से यज्ञ भी हितकर नहीं है। वस्तुतः अहिंसा ही सकल धर्म है, और अहिंसा धर्म ही सच्चा हितकर है, मैं तुम से सत्य कहता हूं कि सत्यवादी पुरुष का हिंसा करनेका धर्म नहीं है।

विवेचन– पूर्वोक्त दोनों श्लोकों में लिखा है कि किसी मुनि के आगे मृग का रूप धर कर धर्म आया। तब उसको मुनि ने स्वर्ग के

लिये मारा, इस कारण से मुनि का सब तप नष्ट होगया, तो विचार करने की बात है कि जब ऐसे मुनि का भी तप हिंसा करने से नष्ट होगया तब विचारे उन लोगों का क्या हाल होगा कि जिन्होंने कभी तप का लेशमात्र भी नहीं अर्जन किया ? केवल सांसारिक सुख में मग्न यज्ञनिमित्त हिंसा करके कौनसी गति को पावेंगे ! यही विचारना चाहिये ! तथा देखिये महाभारत शान्तिपर्व के मोक्षधर्माधिकार अध्याय १६५ पृष्ठ १४१ में यज्ञ का स्पष्ट ही निषेध किया है–

यथा—

"छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम् ।
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः" ॥ २ ॥

"स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम् ।
हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता" ॥ ३ ॥

"अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता" ॥ ४ ॥

"सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्
कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यान् पशून्नरः" ॥ ५ ॥

"तस्मात् प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता" ॥ ६ ॥

भावार्थ–प्रथम श्लोक में छिन्न शरीरवाले वृषभ का और गौओं का विलाप देखकर, तथा मारने के लिये यज्ञवाट में ब्राह्मणों को देख कर विचख्नु राजा ने निर्वचन किया कि गौवों का कल्याण हो, और उसके बाद जो जो अहिंसा धर्म के नाशक हैं उनलोगों को आगे के श्लोक से आशीर्वाद दिया कि मर्यादारहित महामूर्ख नास्तिकशिरोमणि संशयवान् अव्यक्तसिद्धान्तानुयायी पुरुषों ने ही हिंसा को मान दिया है, और तुच्छ इच्छा पूरण करने के लिये पशुओं को मनुष्य मारते हैं किन्तु धर्मशास्त्र के विचार से यह उचित नहीं है, क्योंकि धर्मात्मा मनुजी सभी कर्मोंमें अहिंसाही करने को कहते हैं,

और बृहत्पराशरसंहिता के ५ वें अध्याय में इस तरह मांस का निषेध लिखा है कि–

" यस्तु प्राणिवधं कृत्वा मांसेन तर्पयेत् पितॄन् ।
सोऽविद्वान् चन्दनं दग्ध्वा कुर्य्यादङ्गारविक्रयम् ॥ १ ॥
क्षिप्त्वा कूपे तथा किञ्चित् बाल आदातुमिच्छति ।
पतत्यज्ञानतः सोऽपि मांसेन श्राद्धकृत् तथा " ॥ २ ॥

भावार्थ–जो पुरुष प्राणी का वध करके मांस से पितरों की तृप्ति करना चाहता है वह मूर्ख चन्दन को जलाकर कोयलों को बेचना चाहता है, अर्थात् उत्तम वस्तु को जला देता है । और किसी पदार्थ को कूएँ में छोड़ कर फिर उसे लेनेकी इच्छा से बालक जैसे अज्ञान के वश स्वयं कूएँ में गिर पड़ता है, वैसेही मांस से श्राद्ध करनेवाले अज्ञान के प्रभाव से दुर्गति को पाते हैं ।

यज्ञ में हिंसा करने से धर्म नष्ट होता है इस बात को सूचन करनेवाला महाभारत (वेङ्कटेश्वर प्रेस में छपा हुआ) आश्वमेधिक पर्व ९१ अध्याय पृ० ६३ में लिखा है–

यथा–

" आलम्भसमयेऽस्मिन् गृहीतेषु पशुष्वथ ।
महर्षयो महाराज ! बभूवुः कृपयान्विताः " ॥११॥
" ततो दीनान् पशून् दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपोधनाः ।
ऊचुः शक्रं समागम्य नायं यज्ञविधिः शुभः " ॥१२॥
" अपरिज्ञानमेतत्ते महान्तं धर्ममिच्छतः ।
न हि यज्ञे पशुगणा विधिदृष्टाः पुरन्दर !" ॥१३॥
" धर्मोपघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो ! ।
नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते" ॥१४॥
" विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्ते सुमहान् भवेत् ।
यज बीजैः सहस्राक्ष ! त्रिवर्षपरमोषितैः " ॥१६॥

भावार्थ-हे युधिष्ठिर ! यज्ञ मण्डप में अध्वर्यु लोगों से वध समय में पशुओं के ग्रहण करने पर ऋषि लोग कृपावन्त हुए। उसी-समय दीन पशुओं को देख करके तपोधन-ऋषिलोग इन्द्र के पास जाकर बोले कि-हे बड़े धर्म की इच्छा करने वाले इन्द्र ! यह यज्ञ-विधि शुभ नहीं है, किन्तु तेरा अज्ञानमात्र है; क्योंकि यज्ञ में पशुगण विधिदृष्ट नहीं है, बल्कि यह तेरा समारम्भ धर्म का घात करनेवाला है; इस यज्ञ से धर्म नहीं होगा, क्योंकि हिंसा, धर्म नहीं गिना जाता है। इसीसे केवल विधि से दिखलाये हुए यदि तीन वर्ष के पुराने बीज से यज्ञ करोगे तो विशेष धर्म होगा।

विवेचन-पूर्वोक्त श्लोकों के बाद ऋषि और देवताओं के साथ यज्ञ विषयक वाद-विवादवाला हिंसामिश्रितधर्मनिन्दा नाम का संपूर्ण अध्याय है। जो राजा वसु ने देवताओं का पक्ष लेकर अर्थ का अनर्थ किया इसलिये यह नरक में गया, यह बात सर्वजनविदित है। इसी प्रकार का अधिकार महाभारत शान्तिपर्व मोक्षाधिकार अध्याय ३३५ पत्र २४३ में भी है। यथा-

युधिष्ठिर उवाच-

" यदा भागवतोऽत्यर्थमासीद् राजा महान् वसुः।
किमर्थं स परिभ्रष्टो विवेश विवरं भुवः ?" ॥ १ ॥

भीष्म उवाच-

" अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
ऋषीणां चैव संवादं त्रिदशानां च भारत ! " ॥ २ ॥

" अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान्।
स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः" ॥३॥

ऋषय ऊचुः—

" बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ " ॥ ४ ॥

"

" नैष धर्मः सतां देवाः ! यत्र वध्येत वै पशुः ।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः ? " ॥५॥

भीष्म उवाच—

" तेषां संवदतामेवमृषीणां विबुधैः सह ।
मार्गागतो नृपश्रेष्ठस्तं देशं प्राप्तवान् वसुः " ॥६॥

" अन्तरिक्षचरः श्रीमान् समग्रबलवाहनः ।
तं दृष्ट्वा सहसाऽऽयान्तं वसुं ते त्वन्तरिक्षगम्" ॥७॥

"ऊचुर्द्विजातयो देवानेष च्छेत्स्यति संशयम् ।
यज्वा दानपतिः श्रेष्ठः सर्वभूतहितप्रियः " ॥ ८ ॥

"कथंस्विदन्यथा ब्रूयादेष वाक्यं महान् वसुः ? ।
एवं ते संविदं कृत्वा विबुधा ऋषयस्तथा " ॥९॥

"अपृच्छन् सहिताऽभ्येत्य वसुं राजानमन्तिकात् ।
भोः ! राजन् ! केन यष्टव्यमजेनाहोस्विदौषधैः ?" ॥१०॥

"एतन्नः संशयं छिन्धि प्रमाणं नो भवान् मतः ।
स तान् कृताञ्जलिर्भूत्वा परिपप्रच्छ वै वसुः" ॥११॥

"कस्य वै को मतः कामो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः ! ।
धान्यैर्यष्टव्यमित्येव पक्षोऽस्माकं नराधिप ! " ॥ १२ ॥

"देवानां तु पशुः पक्षो मतो राजन् ! वदस्व नः ।

भीष्म उवाच-

देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुना पक्षसंश्रयात् " ॥ १३ ॥

"छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा ।
कुपितास्ते ततः सर्वे मुनयः सूर्यवर्चसः " ॥१४॥

"ऊचुर्वसुं विमानस्थं देवपक्षार्थवादिनम् ।
सुरपक्षो गृहीतस्ते यस्मात्तस्माद् दिवः पत " ॥ १५ ॥

भावार्थ-युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से प्रश्न किया कि-भगवान् का अत्यन्त भक्त राजा वसु परिभ्रष्ट होकर भूमितल को क्यों प्राप्त हुआ?,

अर्थात अजशब्द का छाग ही अर्थ है यह बात पक्षपात के आधीन में होकर कह दिया, अर्थात् अज शब्द का अर्थ बकरा ही करके यज्ञ करना चाहिये। ऐसा जब उसने कहा तब तो सूर्य के समान तेजस्वी मुनिलोग क्रुद्ध हुए और विमानस्थ देवपक्षपाती राजा वसु को शाप दिया कि जो तुमने पक्षपात से देवताओंका ही पक्षग्रहण किया है इसलिये आकाश से तुम्हारा पृथ्वीपर पात हो, अर्थात् तुम नरक को प्राप्त हो। उसके बाद ऋषियों के वाक्य के प्रभाव से राजा वसु नीचे गिरकर नरक में गया।

इन पूर्वोक्त श्लोकों से सिद्ध होता है कि यज्ञ में भी हिंसा करने का विशेष निषेध है। राजा वसुके समान सत्यवादी नराधिप ने भी दाक्षिण्य के आधीन होकर जो अर्थ का अनर्थ कर डाला, इसलिये वह स्वयं अनर्थ का भागी हुआ, और उसके उद्धार के लिये देवताओं ने बहुतही प्रयत्न किया; तो फिर आजकल के मांसलोलुप जन बिचारे मुग्धिक स्वर्ग के अभिलाषी प्राणियों के धन का नाश कराकर पूर्वोक्त वाक्यानुसार यजमान को नरकगामी बनाकर स्वयं (यज्ञ करानेवाले) भी नरक में गिरते हैं। अत एव ऋषियों ने अजशब्द का अर्थ पुराना धान ही किया है। और इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्दादि कोई भी प्रमाण का विरोध नहीं है। इस अहिंसा शास्त्र को प्रमाण (संमान) करनेवाले मुनियों का यह अर्थ है। और तीन प्रकार का अर्थवाद वृद्ध पुरुषों ने जो माना है; उसमें मुनियों का मत केवल भूतार्थवादरूप अर्थवाद है किन्तु गुणवाद, अनुवादरूप नहीं है। क्योंकि गुणवाद विरोध में होता है, जैसे सन्ध्याकरनेवाला कोई पुरुष पत्थर पर बैठा है उस पत्थर को कोई पुरुष यदि "सन्ध्यावान् प्रस्तरः" ऐसा कहे, तो सन्ध्यावान् और प्रस्तर का अभेद प्रत्यक्ष बाधित है, तथापि गुणस्तुतिरूप वाक्य होने से यह गुणवादरूप अर्थवाद माना जा सकता है। किन्तु मुनियों के मत में कोई विरोध नहीं है अत एव वह गुणवाद नहीं है। और निश्चि-

साथ में ही अनुवादरूप अर्थवाद होता है। जैसे "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" अर्थात् अग्नि हिम का औषधि है, यह बात आबालगोपाल प्रसिद्ध होने पर भी उसीका जो कथन किया गया वह अनुवादरूप अर्थवाद है। प्रस्तुत में मुनियों ने जो अज शब्द का धान्य अर्थ किया है वह प्रायः समस्त प्राणियों में प्रसिद्ध न होने से अनुवादरूप अर्थवाद नहीं हो सकता। और जहाँ पर विरोध और निश्चितार्थ दोनों नहीं है वहाँ भूतार्थवाद ही होता है-जैसे "रावण· सीतां जहार" अर्थात् रावण ने सीता का हरण कर लिया, इसमें न तो कोई विरोध है, और न पहिले ऐसा निश्चय ही था, किन्तु बात तो ठीक ही है, इसी तरह मुनियों का पक्ष भी भूतार्थवाद ही है, परन्तु अजशब्द का पशु अर्थ बतानेवाले देवताओं का पक्ष तो पहिले प्रत्यक्ष प्रमाण से ही दूषित है, तदनन्तर शास्त्रप्रमाण से भी दूषित है, उसीप्रकार अनुभव और लोकव्यवहार से भी दोषग्रस्त है। क्योंकि पशुहनन के समय पशु मारनेवाले पुरुष की मनोवृत्ति, और शरीराकृति, प्रत्यक्ष ही परम क्रूर दिखाई देती है।

पाठकवर्ग! पशुवध से स्वर्ग होना बुद्धिमानों के अनुभव में भी ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि 'यद् दीयते तत् प्राप्यते' अर्थात् जो दिया जाता है वही मिलता है इस न्याय के अनुसार तो सुखदेनेवाला सुख, और दुःखदेनेवाला दुःख, अभय दाता अभय, और भयदेनेवाला पुरुष भय को ही प्राप्त होना चाहिये। किन्तु यज्ञ में जो पशु मारे जाते हैं वे न तो निर्भय, और न सुखी ही दिखाई देते हैं, बल्कि भयभ्रान्त और महादुःखी ही दिखलाई पड़ते है; तो फिर पशु-मारनेवाला स्वर्ग में किस तरह जा सकता है? और लोकव्यवहार में भी कोई उत्तम जाति का पुरुष मृतप्राणी का स्पर्श भी नहीं करता और यदि कोई मरे हुए जीव को छूता है तो वह नीच ही गिना जाता है। अब यह अवसर विचार करने का है कि यज्ञमण्डप में वेद मन्त्रों द्वारा याज्ञिक लोग, बकरे के मुँह को बन्द के आगे

"सर्वं तत्त्वेन धर्मज्ञ ! यथावदिह धर्मतः ।
किञ्च भक्ष्यमभक्ष्यं वा सर्वमेतद् वदस्व मे" ॥ ५ ॥
"यथैतद् यादृशं चैव गुणा ये चास्य वर्जने ।
दोषा भक्षयतो येऽपि तन्मे ब्रूहि पितामह ! " ॥ ६ ॥

भावार्थ—यह प्रत्यक्ष दृश्यमान मनुष्यलोग, लोक में महाराक्षस की तरह दिखाई देते हैं, जो नाना प्रकार के भक्ष्यों को छोड़ कर मांसलोलुप मालूम होते हैं, क्योंकि नाना प्रकार के अपूप (पूआ) तथा विविधप्रकारे के शाक, खंड (चीनी) से मिश्रित पक्वान्न और सरस खाद्य पदार्थ से भी विशेषरूप से आमिष (मांस) को पसन्द करते हैं। इस कारण इस विषय में मेरी बुद्धि मुग्धसी हो जाती है कि मांस भोजन से अधिक रसवाला क्या कोई दूसरा भोजन नहीं है ! इससे हे प्रभो ! मांस के त्याग करने में क्या २ गुण होते हैं ? पहिले तो मैं यह जानना चाहताहूँ; पीछे खाने में क्या २ दोष हैं यह भी मुझे जिज्ञासित है । हे धर्मतत्त्वज्ञ ! यथार्थ प्रमाण के द्वारा यहां पर मुझे भक्ष्य और अभक्ष्य बतलाइये, अर्थात् मांस खाने में जैसा दोष और गुण होता हो वैसा कहिये ।

भीष्म उवाच—

"एवमेतन्महाबाहो ! यथा वदसि भारत ! ।
न मांसात् परमं किञ्चित् रसतो विद्यते भुवि" ॥ ७ ॥
"क्षतक्षीणाभितप्तानां ग्राम्यधर्मरतात्मनाम् ।
अध्वना कर्षितानां च न मांसाद् विद्यते परम्" ॥ ८ ॥
"सद्यो वर्द्धयति प्राणान् पुष्टिमग्र्यां ददाति च ।
न भक्ष्योऽभ्यधिकः कश्चिन्मांसादस्ति परन्तप !" ॥ ९ ॥
"विवर्जिते तु बहवो गुणाः कौरवनन्दन ! ।
ये भवन्ति मनुष्याणां तान् मे निगदतः शृणु: ॥ १० ॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः " ॥ ११ ॥

एतद् मांसस्य मांसत्वमनुबुद्ध्यस्व भारत ।" ॥३५॥
"येन येन शरीरेण यद् यत्कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते" ॥ ३६ ॥
"अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः" ॥ ३७ ॥
"अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्" ॥३८ ॥
"सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम् ।
सर्वदानफलं वाऽपि नैतत्तुल्यमहिंसया" ॥ ३९ ॥
"अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा ।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता" ॥ ४० ॥
"एतत्फलमहिंसाया भूयश्च कुरुपुङ्गव ।
न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि" ॥ ४१ ॥
(श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस में छपाहुआ महाभारत अनुशासनपर्व के पत्र ११६-से११७ तक)

विवेचन—इन पूर्वोक्त श्लोकों के अत्यन्त सरल होने से इनकी व्याख्या करने की विशेष आवश्यकता नहीं है तथापि सामान्य रूप से यहां कुछ विवेचन करके आगे चलता हूं। भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर के पूर्वोक्त प्रश्नों का यह उत्तर दिया कि हे भारत ! पृथ्वी में कोई वस्तु मांस की अपेक्षा किसको अच्छी नहीं मालूम होती है यह स्पष्ट किये विना बनता नहीं है इसलिये जो मांस को उत्तम मानते हैं वे पुरुष दिखलाये जाते हैं—अर्थात् घायल पुरुष, क्षीण, सन्तापी, विषयासक्त और मार्गादि परिश्रम से थके हुए पुरुष ही मांस की अपेक्षा से अधिक अच्छा पदार्थ अपनी समझ से कुछ भी नहीं समझते हैं और वेही लोग केवल मांसाहारसे ही शरीर की पुष्टि मानते हैं, इसलिये उनकी समझ से मांस से अच्छा कोई दूसरा भक्ष्य नहीं है। किन्तु धर्मात्मा पुरुष तो मांसाहार को कदापि स्वीकार नहीं करते। हे कौरवनन्दन ! मांसाहार त्याग करने से मनुष्यों को

जो पुरुष होते हैं उनको दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है । जो पुरुष दूसरे के मांस से अपने मांस की वृद्धि करना चाहता है उस निर्दय पुरुष से दूसरा पुरुष हजार कुकर्म करनेवाला भी अच्छा ही है क्योंकि संसार में प्राण से बढ़कर कोई भी दूसरा वस्तु प्रियतर नहीं है, अतएव हे पुरुषश्रेष्ठ ! अपने आत्मा पर जैसा तुम प्रेमभाव रखते हो वैसाही दूसरे के प्राणोंपर भी करो । तथा वीर्य से ही मांस की उत्पत्ति होती है यह बात भी सभी को संमत है क्योंकि इसमें किसी को कुछभी मतभेद नहीं है, अतएव उसके खाने में बहुत दोष है और त्याग करने में बहुत पुण्य है । हे युधिष्ठिर ! सब प्राणियों में दया करनेवाले पुरुष को कभी भय नहीं होता, और दयावान् पुरुष को और तपस्वियों को ही यह लोक और परलोक दोनों अच्छे होते हैं। इसलिये हमलोग अहिंसा को ही परम धर्म मानते हैं। जो पुरुष दया से नम्र होकर सब प्राणियों को अभयदान देता है वही पुरुष सब जीवों से अभय पाता है, ऐसा मैंने सुना है । धर्मात्मा पुरुष तो आपत्तिकाल में और सम्पत्तिकाल में सब जीवों की रक्षा ही करता है। किन्तु [illegible] कितने ही स्वार्थी पुरुष दया नहीं करते और [illegible] जानकार होनेपर भी अपने पाप पाते हुए भी, [illegible] बेकार देखते हैं तब उन्हें पशुशाला में छोड़ देते हैं या दूसरे के हाथ बेच देते हैं और अज्ञानी लोग कसाइयों [illegible] है किन्तु बहुत से नास्तिक लोग भी अनुयायी [illegible] मानते हैं, यदि इसका मूल कारण देखा जाय [illegible] न होना ही है, तथा [illegible] कारण नहीं देते हैं, किन्तु सभी धार्मिक [illegible] भी पालन करते हैं ।

[illegible]

कोई भी चीज नहीं दिखाई पड़ती है। हे भाग्त ! सब प्राणियों को मृत्यु के तुल्य कुछ भी अनिष्ट दिखाई नहीं देता, अर्थात् मृत्युकाल में कैसा ही दृढ़ पुरुष क्यों न हो उस समय उसको भी डर मालूम होता ही है। जिन महानुभाव पुरुषों की समाधि (सुख) से मृत्यु होती है उनको भी स्वेद कम्पादिरूप शरीर धर्म तो अवश्य होते हैं क्योंकि यह शरीर का स्वभाव ही है। देखिये योगियों का जब शरीर से संबन्ध छूटता है तब वे केवल आत्मतत्त्व में ही लवलीन होते हैं, उस अवस्था में भी द्रव्य दु:खों से पीडित होकर शरीर कांपता है, और हाथ पाव भी हिलते हैं। ध्यानी पुरुष को भी वेदनीय कर्म होगा तो जरूर शरीर का धर्म दृष्टिगोचर होगा, तथापि इससे ध्यानी कभी अध्यानी नहीं माना जा सकता। दृष्टान्त यह है कि महावीर देव ने अनन्त बलवान् और मेरु की तरह निष्कम्प, तथा पृथ्वी की तरह दृढ़ होने पर भी कर्णकीलकाकर्षण के समय तो आक्रन्द किया ही; इससे यह न समझना चाहिये कि भगवान् ध्यान से भ्रष्ट होकर पौद्गलिक भाव में लीन हुए किन्तु वह तो शरीर का धर्म ही है। देखिये, वर्तमान समय में शस्त्रविद्या में कुशल डाक्टर लोग औषधि के प्रयोग से रोगी को बेहोश करके उसके शरीर के अवयवों को काटते हैं और काटने के समय रोगी के हाथ पाँव को दो चार आदमी पकड़े रहते हैं और उस समय भी रोगी हाथ पैर हिलाताही है और अस्फुट शब्द को बोलताही है; किन्तु काटने के बाद जब औषध (क्लोरोफार्म) उतर जाता है उस समय यदि उससे पूछा जाय कि काटने के समय तुमको क्या हुआ था ? तो वह यही कहता है कि मुझे तो कुछ भी मालूम नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि केवल शरीरका धर्मही कम्पादि कि-यावाला है। यह विना आत्मा के उपयुक्त हुए ही स्वाभाविक होता है तथापि शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध जीवन-पर्यन्त है यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी। क्योंकि मृत शरीर में कोई चेष्टा नहीं होती है, जीवित शरीर में कम्प, स्वेद, मूर्छा और चलनादि क्रिया मालूम

पड़ती है; और यह दुष्कर कार्य के साधक सिद्ध हैं, क्योंकि सर्व के समय प्रायः पूर्वोक्त चिह्न संसारी जीवों में दीखते हैं। अतएव हिंसा त्याज्य है, और अपनी आत्मा की तरह सबको देखना उचित है। यदि समस्त पृथ्वी पर घूमकर अनुभव प्राप्त किया जाय तो सब जीवों को प्राण से अधिक कोई वस्तु प्यारी नहीं मालूम होगी अतएव सब प्राणियों में दया करनेवाला और ही आत्मवत्‌ माना जाता है। इसलिये दया का विशेषभाव भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को सिखाया है कि हे राजन्! जीवमात्रमेव मद्यमांसत्यागी जो पुरुष होता है वह स्वर्ग में उत्तमोत्तम स्थान को पाता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

यदि महाभारत को हिन्दू लोग पञ्चम वेद मानते हैं तो पूर्वोक्त प्रकार और महाभारत के अनुशासन पर्व में दान धर्म की महिमा के साथ अहिंसा धर्म के पक्ष में भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को सिखाया है, उस पर क्यों नहीं ध्यान देते? । अब मैं उनका [illegible] अहिंसा [illegible] पाठक महाशयों को परिचित करता हूँ

[illegible] अहिंसा का [illegible] बड़ा भारी [illegible] किया गया है [illegible] अहिंसा के गुणों को [illegible] नहीं हो सकता। [illegible] है कि सम्पूर्ण यज्ञ, दान, [illegible] अहिंसा की [illegible] और [illegible] है। [illegible]

[illegible]

" [illegible] ।
[illegible] " ॥ २९ ॥
" [illegible] पुनः पुनः ।

पाच्यमानाथ दृश्यन्ते विवशा मांसगृद्धिनः " ॥ ३० ॥
" कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः ।
आक्रम्य मार्यमाणाथ भ्राम्यन्ते वै पुनः पुनः" ॥३१॥
भावार्थ-क्षार, आम्ल, और कटु रसों से मांसभक्षी पुरुष गर्भ-वास के समय परिताप को प्राप्त होते हैं, तथा मल मूत्रादि द्वारा भयङ्कर दुःख को भी प्राप्त होते हैं. तथा नरक गति में उत्पत्ति के समय भी अवश होकर बार बार नरक को जाते हैं और तद्‌दूयोनि में आने पर भी कुम्भीपाक में पकाये जाते हैं. तथा उन नारकी जीवों को अनेक प्रकार के शस्त्रों से छेदते हुए असिपत्रादि वन में यमदूत लोग लेजाते हैं. जिस पत्रके गिरने ही उन दुष्टों का शिरश्छेद होता है । इसी प्रकार नरकपाल लोग वहां से फिर उन्हें अन्यत्र लेजाते हैं । देखिये-यह सब वेदना मांसाशी जीवही प्रायः पाते हैं, इसलिये ही परप्राण से स्वप्राण की रक्षा करनेवाले मूर्खशि-रोमणि गिने जाते हैं । अतएव समस्त नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्रों में परोपकार के लिये क्षणभङ्गुर शरीर के ऊपर मोह करनेका निषेध है । जैसे-

" जीवितं हि परित्यज्य बहवः साधवो जनाः ।
स्वमांसैः परमांसानि परिपाल्य दिवं गताः " ॥१८॥

भावार्थ-बहुत से साधुजन अपने जीवनकी मूर्छा(मोह)छोड़ कर, निज मांस के द्वारा दूसरों के मांस की रक्षा करके उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं । इत्यादि अनेक श्लोक, मांस त्याग के लिये महाभारत अनुशासन पर्व के अध्याय ११४-११५ पृ. १२५ वें में दिखाई देते हैं; उनमें से थोड़े ही श्लोक यहां उद्‌धृत किये जाते हैं-

"पुत्रमांसोपमं जानन् खादते यो विचक्षणः ।
मांसं मोहसमायुक्तः पुरुषः सोऽधमः स्मृतः॥११॥ अध्याय११४
"यो यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः ।
वर्जयेद् मधु मांसं च सममेतद् युधिष्ठिर ! " ॥ १० ॥

"न भक्षयति यो मांसं न च हन्याद् न घातयेत् ।
तद् मित्रं सर्वभूतानां मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् " ॥ १२ ॥
"स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नारदः प्राह धर्मात्मा नियतं सोऽवसीदति " ॥ १४ ॥
"मासि मास्यश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
न खादति च यो मांसं सममेतन्मतं मम " ॥ १६ ॥
"सर्वे वेदा न तत् कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत ! ।
यो भक्षयित्वा मांसानि पश्चादपि निवर्तते " ॥ १८ ॥
"सर्वभूतेषु यो विद्वान् ददात्यभयदक्षिणाम् ।
दाता भवति लोके स प्राणानां नात्र संशयः"॥२०॥अ.११५

इत्यादि बहुत से जो श्लोक महाभारत में लिखे हैं उन्हें जिज्ञासुओं को उसी स्थल पर देखलेना उचित है । इन पूर्वोक्त श्लोकों में समस्त शास्त्र का रहस्य दिया हुआ है अतएव जीवन की इच्छा न रखकर, जो उत्तम पुरुष स्वमांस से पर मांस की रक्षा करते हैं, अर्थात् मरणान्त तक परोपकार करने की इच्छा करते हैं, वे ही पुरुष देवलोक के सुख को पाते हैं । और जो पुरुष मांस को तुच्छ मानकर और पुत्रमांस की उपमा देकर भी मोह से उसे खाता है उससे बढ़कर तो अधर्मी कोई नहीं है क्योंकि धर्मशास्त्र में मांसत्यागी पुरुष को ही धर्मात्मा माना है । इसीलिये लिखा है कि कोई एक मनुष्य यदि सौ वर्ष तक महीने महीने अश्वमेध यज्ञ करे, और दूसरा केवल मास का ही त्याग करे, तो वे दोनों तुल्य ही हैं, कदाचित् भूल से या अज्ञान से मांस कभी खा लिया हो और पीछे छोड़ दे, तो जो फल चारों वेदों से और संपूर्ण यज्ञों से नहीं मिलता है वह फल केवल उसे मांस त्याग से ही मिल जाता है । पाठकवर्ग ! यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि ऐसा सीधा और सरल उपदेश होने पर भी मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति में क्यों पड़ते हैं ? अस्तु, मैं तो उनके कर्म का ही दोष देकर आगे चलता हूँ । एक बड़े खेद की यह भी

पात है कि प्रायः मे मांसाहारी लोग तो अपनी चतुराई से नये नये श्लोक बनाकर नयी नयी कल्पनाद्वारा भव्यपुरुषों को भ्रमजाल में डालने के लिये प्रयत्न करते हैं । यथा–

" केचिद् वदन्त्यमृतमस्ति पुरे सुराणां
 केचिद् वदन्ति वनिताऽधरपल्लवेषु ।
ब्रूमो वयं सकलशास्त्रविचारदक्षा
 जम्बीरनीरपरिपूरितमत्स्यखण्डे " ॥ १ ॥

अर्थात् यद्यपि कोई लोग कहते हैं कि देवलोक में अमृत रहता है, और कोई कहते हैं कि स्त्री के अधरोष्ठपल्लव में अमृत स्थित है; किन्तु सकलशास्त्रविचारचतुर हमलोग (मांसाहारी) कहते हैं कि नींबू के जल से भरपूर मछली के टुकड़े में ही अमृतास्वाद है ।

सज्जन महाशय ! तत्त्ववेत्ताओं ने तो पूर्वोक्त श्लोक के तृतीय पाद का " ब्रूमो वयं सकलशास्त्रविचारशून्याः " ऐसा ठीक ठीक पाठ बना दिया है क्योंकि विचारशून्य मनुष्य की इच्छा है कि वह चाहे जैसी बकवाद करे, क्योंकि सद्बुद्धि के अभाव से ही मनुष्य भारी अनर्थ करता है; याने देव को अदेव और अदेव को देव, गुरु को अगुरु और अगुरु को गुरु, धर्म को अधर्म, और अधर्म को धर्म, तत्त्व को अतत्त्व और अतत्त्व को तत्त्व, भक्ष्य को अभक्ष्य और अभक्ष्य को भक्ष्य, इत्यादि विपरीत मानकर भयङ्कर भूल में पड़कर संसार सागर में (वह जीव) सदा घूमताही रहता है । इसीलिये सब लोगों को कल्पित बातों पर ध्यान न देकर वास्तविक अहिंसा धर्म को ही स्वीकार करना चाहिये । किन्तु जो मनुष्य मांसरसलम्पट होता है वही अपनी इच्छानुसार मनमाने श्लोक भी बना लेता है । यथा—

"रोहितो नः प्रियकरः मद्गुरो मद्गुरुप्रियः ।
 हिल्सी तु घृतपीयूषो वाचा वाचामगोचरः" ॥ १ ॥

भावार्थ-कोई कहता है कि रोहित मत्स्य हमको अत्यन्त प्रिय है, और मद्गुर नामक मत्स्य तो मेरे गुरु को प्रिय है ; तथा हिल्सी

जाति का मत्स्य घृत और अमृत के समान है, और वार्त्ताकी के मत्स्य का स्वाद कहने में नहीं आसकता। देखिये ऐसे कल्पित श्लोकों को बनाकर मांसाहारी लोग विचारे धर्मतत्त्व के अनजान पुरुषों को भी परिभ्रष्ट करते हैं। इस पूर्वोक्त श्लोक को बङ्गदेश के मनुष्य प्राय कहा करते हैं। और 'केचिद् वदन्त्यमृतमस्ति पुरे सुराणामित्यादि' श्लोक तो प्रायः मैथिल कहते रहते हैं। बङ्गदेशनिवासियों में कितनेही मनुष्यों के मत्स्यभक्षण आदि कुत्सित व्यवहार को देखकर अन्य कवियों ने कवितारूप से बङ्गवासियों का हास्य किया है कि-

"स्थाने सिंहसमा रणे मृगसमाः स्थानान्तरे जम्बुका
आहारे बककाकशूकरसमाश्छागोपमा मैथुने।
रूपे मर्कटवत् पिशाचवदना क्रूराः सदा निर्दया
बङ्गीया यदि मानुषा हर! हर! प्रेताः पुनः कीदृशाः"॥१॥

भावार्थ-अपने स्थान में सिंह की भांति स्थिति करनेवाले, रण में मृग (हरिण) की तरह भागनेवाले, दूसरे के स्थान में शृगाल जैसे, बगले, काक और शूकर की तरह अभक्ष्य आहार करने वाले, विषय सेवनमें बकरे जैसे, बन्दर की सदृश रूपवाले, पिशाच जैसे मुखवाले अर्थात् भयंकर तथा क्रूर स्वभाव वाले और दया करके रहित ऐसे मांस भक्षणादि कुत्सित व्यवहार करने वाले बङ्गवासी लोग अगर जो मनुष्य कहे जावें तो भला फिर प्रेतों में किसकी गणना होगी अर्थात् यही मनुष्यरूप से प्रेतगण हैं।

एव रीत्या कान्यकुब्जों के व्यवहार पर भी एक कवि ने ऐसा लिखा है कि-

"कान्यकुब्जा द्विजाः सर्वे मूर्खा एव न संशयः।
मीनमेषादिरागीनां भोक्तारः कथमन्यथा?" ॥ १ ॥

भावार्थ-इसमें कुछभी सन्देह नहीं है, कि कान्यकुब्ज ब्राह्मण मूर्ख हीहैं यदि वह ऐसे न होते तो मछली तथा बकरे इत्यादि का भक्षण क्यों करते?।

अब प्रसङ्गानुसार यहां पर यह भी कह देना उचित है कि जो मांसादि को खानेवाले कहते हैं कि सन्ध्याक्रिया करनेवालों को तो अवश्यही मद्य, मांसभक्षण तथा बलिप्रदान करनाही चाहिये क्योंकि यह सब बातें शास्त्र संमत हैं इस विषय में देवीभक्त किसी सज्जनने ठीक कहा है कि–

"या योगीन्द्रहृदि स्थिता त्रिजगतां माता कृपैकप्रता
सा तुष्येत् भवतीव किं पशुवधैर्मांसासवोत्सर्जनैः ? ।
तस्माद् वीरवराऽवधारय तदाचारस्य यत् पोषकं
रक्षोभिर्विरचय्य तत् वचनं तन्त्रे प्रवेशीकृतम् " ॥ १ ॥

भावार्थ–जो सब जीवों पर सदा दयाही रखनेवाली, योगा-भ्यासियों के हृदय में निवास करनेवाली, तीनों जगत् की माता देवी क्या चाण्डाली की भांति पशुवध से तथा मांस और मद्य देने से प्रसन्न हो सकती है अत एव हे वीरवर ! विचार की बात है कि यह सब वचन मांसभक्षी राक्षसों ने किसी द्वारा बनवाकर तन्त्र शास्त्र में रख दिये हैं ।

अब उपरोक्त उदाहरणों से आप के अन्तःकरण में यह विचार तो ठीकही बैठ गया होगा कि हिंसा, परस्त्रीगमन तथा मांसभक्षण करने से कभी धर्म नहीं हो सकता तथापि अगर कोई यह कहे कि हा हिंसादि करने से भी धर्म होता है तो उसको रोकने के लिये नीचे का श्लोक अवश्यही समर्थ हो सकता है ।

"धर्मश्चेत् परदारसङ्गकरणाद् धर्मः सुरासेवनात्
संपुष्टिः पशुमत्स्यमांसनिकराहाराद्य हे वीर ! ते ।
हत्वा प्राणिचयस्य चेत् तव भवेत् स्वर्गापवर्गाश्रये
कोऽनर्थकर्मतया तदा परिचितः स्यात्रेति जानीमहे " ॥२॥

भावार्थ–हे हिंसादि कर्मों में वीर ! यदि तुमको परस्त्रीगमन, मद्यसेवन से धर्म हो और पशु तथा मत्स्योंके आहार करने से शरीरपुष्टि हो और प्राणिगण को मारने से स्वर्ग तथा मोक्ष की

प्राप्ति होवे तो फिर कुकर्मी पुरुष कौन कहा जा सकता है यह मैं नहीं कह सकता अर्थात् उक्त कर्मों को करनेवाले ही पापी और नरकादि के क्लेशों को भोगने वाले होते हैं।

इसी प्रकार मैथिलों का व्यवहार देखकर किसी कवि ने अवतारों की संख्या में जो भगवान् ने नृसिंहावतार धारण किया है उसकी भी उत्प्रेक्षा की है कि–

"अवतारत्रयं विष्णोर्मैथिलैः कवलीकृतम्।
इति संचिन्त्य भगवान् नारसिंहं वपुर्दधौ"॥ १॥

भावार्थ–विष्णु ने पहिले तीन अवतार धारण किए अर्थात् मत्स्य, कच्छ और वाराह रूप से प्रकट हुए, किन्तु उनको मैथिलों ने खा डाला। तब तो भगवान् ने क्रोध करके नारसिंह शरीर को धारण किया, क्योंकि मैथिल यदि उसको खाते तो स्वयं ही भक्षित हो जाते। यद्यपि यह श्लोक हास्यप्रयुक्त है, तथापि वास्तविक विचार करने पर भी मैथिलों का व्यवहार मत्स्य, कच्छप वगैरह जीवों के संहार करने का अवश्य है।

सामान्य नीति यह है कि जिसके कुल में भारी पण्डित या महात्मा हुआ हो वह कुल भी उत्तम माना जाता है, इसलिये उस कुल में कोई आपत्ति आवे तो लोग उसके सहायक होते हैं। तो जिसको लोग भगवान् मानते हैं उस भगवान् का अवतार जिस जाति में हो, उस जाति का यदि नाश होता हो तो उसका उद्धार करना चाहिये, किन्तु उद्धार के बदले नाश ही किया जाता हो तो कैसा अन्याय है! यह भी एक विचारणीय बात है। और भी एक विचार करने का अवसर है कि जो पुरुष मछली खाता है वह समस्त मांस को ही खाता है, यह बात मनुस्मृति के ५ वें अध्याय के पृ. १८१ में श्लोक १५ देखिये–

"यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्माद् मत्स्यान् विवर्जयेत् "॥१५॥

भावार्थ-जो पुरुष जिसका मांस खाता है वह पुरुष उसका भक्षक गिना जाता है, जैसे बिल्ली चूहे को खाती है तो वह बिल्ली मूषकादक मानी जाती है, उसी प्रकार मत्स्य को खानेवाला मत्स्याद गिना जाता है, किन्तु वह मत्स्यादमात्रही कहा जाता हो सो भी नहीं, किन्तु सर्वमांसभक्षी गिना जाता है। अतएव मत्स्यों का मांस खाना सर्वथा अनुचित है। अपनी, जाति की, धर्म की और घर की पवित्रता की रक्षा करनी हो तो मत्स्य का भक्षण सर्वथा त्याग करना चाहिये।

विवेचन—मत्स्य खानेवाले को जो सर्वमांसभक्षी माना है वह बहुत ही ठीक है, क्योंकि मत्स्य तो सब पदार्थों को खाता है, अर्थात् समुद्र में या नदी में, जो किसी जीव का मृत शरीर पड़जाता है तो उसको मत्स्यही खाता है और उसके खाने के साथ साथ उसका मल मूत्र भी खाता है, तो फिर जिसने मत्स्य का मांस खाया उसने तो मानों मनुष्य का मल मूत्र भी खालिया। अत एव कल्याणाभिलाषी जीवों को ऐसे कुत्सित आहार का कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिये। अब मैं मांसाहार के निषेध करनेवाले कुछ थोड़े से पौराणिक श्लोकों को दिखलाता हूं। महाभारत शान्तिपर्व के २९६ अध्याय पृष्ठ १८८ में राजा जनक ने पराशर ऋषि से प्रश्न किया है कि कौन कर्म श्रेष्ठ है?—

यथा—

जनक उवाच—

"कानि कर्माणि धर्म्याणि लोकेऽस्मिन् द्विजसत्तम!।
न हिंसन्तीह भूतानि क्रियमाणानि सर्वदा" ॥ ३५ ॥

पराशर उवाच—

"शृणु मेऽत्र महाराज! यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
यानि कर्माण्यहिंस्राणि नरं त्रायन्ति सर्वदा" ॥ ३६ ॥

भावार्थ- प्रश्न-हे द्विजसत्तम! अहिंसा कर्म तथा हिंसा कर्म में कौन धर्मयोग्य कर्म है और कौन अधर्मयोग्य है? उत्तर-हे महाराज

जनक ! जो कर्म अहिंसा याने हिंसा दोष से रहित है वही कर्म पुरुषों की सर्वदा रक्षा करता है । अत एव अहिंसाकर्म धर्म, और हिंसाकर्म अधर्म मानागया है । आगे वाराहपुराण में भी कहा है कि-

"जीवहिंसानिवृत्तस्तु सर्वभूतहितः शुचिः ।
सर्वत्र समतायुक्तः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥
अध्याय १२१ पृष्ठ ५१८

हिंसादीनि न कुर्वन्ति मधुमांसविवर्जकाः ।
मनसा ब्राह्मणीं चैव यो गच्छेन्न कदाचन ॥ २४ ॥
अध्याय १२५ पृष्ठ ५१०

विकर्म नाभिकुर्वन्ति कौमारव्रतसंस्थितः ।
सर्वभूतदयायुक्तः सत्त्वेन च समन्वितः ॥ ५ ॥
अध्याय १२२ पृष्ठ ५११

न भक्षणीयं वाराहं मांसं मत्स्याश्च सर्वतः ।
अपत्न्या ब्राह्मणीयैश्च दीक्षितैश्च न संशयः ॥ ३४ ॥
परीवादं न कुर्वीत न हिंसां वा कदाचन ।
पैशुन्यं न च कर्तव्यं स्तैन्यं वापि कदाचन ॥ ३५ ॥
अध्याय १२० पृष्ठ ५११

निस्पृहश्च मायाघ्नो मम कर्मपरायणः ।
अहिंसा परमश्चैव सर्वभूतदयापरः ॥ ३७ ॥
अध्याय ११० पृष्ठ ५१०

भावार्थ वाराहपुराण के कई श्लोक पहिले भी दिये जा चुके हैं किन्तु विशेषरूप से पूर्वोक्त श्लोक भी दिये गये हैं । इनका भावार्थ इस तरह है कि जीवहिंसा से निवृत्त पुरुष सब जीवों के हितकर और पवित्रपुरुष तथा सर्वत्र समभाववाला होताहै, याने उसको ढेला पत्थर और काञ्चन (सुवर्ण) समान होता है। तथा हिंसादि अनर्थ कार्य को नहीं करता है, और मधु, मांस का त्यागी, होकर मन से भी परस्त्री ब्राह्मणी आदि के प्रति नहीं जाता है; और चुगली

कर्मों को न करके अपना कौमार व्रत पालन करता है, तथा सब भूतों में दयायुक्त होकर सत्व से युक्त भी रहता है।

वाराह का मांस, खाने के योग्य नहीं है और मत्स्य का मांस भी अभक्ष्य है। और दीक्षित ब्राह्मणों को तो कदापि इन्हें नहीं खाना चाहिये, क्योंकि उनको वे सर्वथा अभक्ष्य हैं। और सत्पुरुष को परनिन्दा, हिंसा, चुगली, और चोरी भी नहीं करनी चाहिये। नित्यकर्मयुक्त शास्त्र को जाननेवाला मेरे कर्म में परायण, अहिंसा को परम धर्म माननेवाला, और सब सूक्ष्म बादर जीवों की दया में तत्पर हो, इत्यादि अनेक बातें वाराह पुराण में लिखी हुई हैं। इसलिये ये सब बातें एसियाटिक सोसायिटी के छपे हुए वाराह पुराण में देखने से पाठकों को स्पष्ट मालूम होंगी। इसी तरह कूर्म पुराण में भी अहिंसा धर्म की साक्षी देनेवाले श्लोक हैं—

यथा—

"न हिंस्यात् सर्वभूतानि नानृतं वा वदेत् कचित्।
नाहितं नाप्रियं ब्रूयात् न स्तेनः स्यात् कथञ्चन" ॥१॥

अध्याय १६ पृष्ठ ५५१

भावार्थ-सब भूतों की हिंसा नहीं करनी, झूठ नहीं बोलना अहित और अप्रिय नहीं बोलना और किसीप्रकार की चोरी भी नहीं करनी चाहिये।

विवेचन-पुराणों मे हिंसा करने, चोरी करने तथा अहित अप्रिय और झूठ बोलने की भी मनाही की गयी है। इतना लिखे रहने पर भी स्वार्थान्ध पुरुष अमूल्य महावाक्यों का अनादर करके जिसमें प्राणियों का अहित और अप्रिय दोनों हों, ऐसेही कामों को करने और कराते हैं और करनेवाले को अच्छा मानते हैं। जहाँ बलिदान होता है वहां पर मरनेवाले जीव का अहित और अप्रिय नहीं तो क्या होता है? यह भी विचार करने के योग्य है। क्योंकि प्राण से प्यारी कोई भी चीज़ दुनियां भर में नहीं है, यह बात जैन सिद्धान्त से तथा महाभारत आदि से सिद्ध हो

चुकी है। किन्तु अब विचारने की बात यह है कि बलिदान करके जो प्राणियों के प्राण लिये जाते हैं, उसमें उनका अहित और अप्रिय संपूर्ण रीति से मालूम होता है। इसीलिये एक स्थान में यज्ञ के वास्ते एक बकरा बांधा हुआ बें बें कर रहा था उसपर कई कवियों ने भिन्न २ प्रकार की उत्प्रेक्षा की—एक ने ऐसी उत्प्रेक्षा की कि बकरा कहता है कि मुझे जल्दी स्वर्ग पहुंचा दो, तो दूसरे ने यह उत्प्रेक्षा की कि यह बकरा कहता है कि इस राजा का कल्याण हो, जिसने केवल तृण आहार को छुड़ाकर अमृताहार का भागी बनाया; तब तीसरे कवि ने कहा कि यह बकरा वैदिक धर्म को धन्यवाद देरहा है कि यदि वैदिक धर्म न होता तो हमारे ऐसे अज्ञानी पशु को स्वर्ग कौन ले जाता !; इस प्रकार की जब कल्पनाएँ चल रही थीं; उसी समय एक दयालु पुरुष कहने लगा कि यह पशु यज्ञ करनेवालों से विनति करता है कि—

"नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया
संतुष्टस्तृणभक्षणेन सततं साधो ! न युक्तं तव ।
स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो
यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ?"॥१॥

भावार्थ—हे यज्ञ करनेवाले महाराज ! मैं स्वर्ग के फलोपभोग का प्यासा नहीं हूं और न मैंने तुमसे यह प्रार्थना ही की है कि तुम मुझे स्वर्ग पहुंचाओ, किन्तु मैं तो केवल तृण के ही भक्षण से सदा प्रसन्न रहता हूं, अतएव हे सज्जन ! तुम्हें यह कार्य्य यज्ञ करना उचित नहीं है, और यदि तुम्हारा मारा हुआ प्राणी स्वर्ग में निश्चय से जाता ही हो, तो इस यज्ञ में अपने माता पिता आदि बन्धुओं को ही मारकर स्वर्ग क्यों नहीं पहुंचा देते ?।

जो अहिंसाधर्म की पुष्टि पुराण, स्मृति आदि बहुत से ग्रन्थों में की गई है, उसको मैं यहाँ न दिखलाकर, केवल अहिंसा की महिमा और उसके सम्हालनेवाले की अपूर्व शक्ति, तथा हिंसक पुरुष की दुर्दशा ही दिखलाता हूँ।

अहिंसा की महिमा कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य जी ने इस तरह की है–

यथा–

" मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी ।
अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारणिः " ॥ ५० ॥
" अहिंसा दुःखदावाग्निप्रावृषेण्यघनाऽऽवली ।
भवभ्रमिरुगार्तानामहिंसा परमौषधी" ॥ ५१ ॥

योगशास्त्र द्वि प्र. पृ. २८५

भावार्थ–अहिंसा सब प्राणियों की हित करनेवाली माता के समान है, और अहिंसा ही संसाररूप मरु (निर्जल) देश में अमृत की नाली के तुल्य है; तथा दुःखरूप दावानल को शान्त करने के लिये वर्षाकाल की मेघपङ्क्ति के समान है; एवं भवभ्रमणरूप महारोग से दुःखी जीवों के लिये परमौषधि की तरह है ।

अहिंसा समस्त व्रतों में भी मुकुट के समान मानी गई है—

"हेमाद्रिः पर्वतानां हरिरमृतभुजां चक्रवर्ती नराणां
शीतांशुर्ज्योतिषां स्वस्तरुरवनिरुहां चण्डरोचिर्ग्रहाणाम् ।
सिन्धुस्तोयाशयानां जिनपतिरसुरामर्त्यमर्त्याधिपानां
यद्वत् तद्वद् व्रतानामधिपतिपदवीं यात्यहिंसा किमन्यत्?"॥१॥

भावार्थ–जैसे पर्वतों में मेरु, देवताओं में इन्द्र, मनुष्यों में चक्रवर्ती, ज्योतिर्मण्डल में चन्द्रमा, वृक्षावली में कल्पवृक्ष, ग्रहों में सूर्य, जलाशयों में सिन्धु, और वासुदेव-बलदेव-चक्रवर्ती, तथा ६४ इन्द्रों में जिनराज उत्तम हैं, वैसेही समस्त व्रतों में श्रेष्ठ पदवी को अहिंसा ही पाती है, अर्थात् अहिंसा सबसे श्रेष्ठ है। अतएव जिस धर्म में दया न हो वह धर्म किसी काम का नहीं है। क्योंकि शस्त्ररहित सुभट और विचारहीन मन्त्री, किले के बिना नगर, नायक रहित सेना, दन्तहीन हस्ती, कलाशून्य पुरुष, तप से विहीन मुनि, प्रतिज्ञाभङ्ग पुरुष, ब्रह्मचर्य रहित व्रती, स्वामी के बिना स्त्री, दान बिना धनाढ्य का धन, स्वामी-

महात्मा पुरुषों का लक्ष्य अहिंसा ही था है और उनका उपदेश भी वैसाही होता है, यदि मध्यस्थ बुद्धि से उनलोगों का सिद्धान्त देखा जाय तो न्यूनाधिक रीति से सभी बात जीवदयापूर्वक ही मालूम होगी। किन्तु कालान्तर में स्वार्थासक्त पुरुषों के मन में अनेक कल्पनाएँ उत्पन्न हुईं, इसलिये उन्होंने ही अर्थ को अनर्थ करडाला। क्योंकि महाभारत में ऋषियों ने अज शब्द का अर्थ तीन वर्ष का पुराना धान ही माना है, यह बात पहिले भी कही जा चुकी है। यद्यपि अनेक कलियुग बलिदान शब्द को लेकर नयी नयी कल्पनाएँ करके हजारों जाति के जीवों के पक्के शत्रु (दुश्मन) बन गये हैं; किन्तु वास्तव में बलिदान शब्द का तो यह अर्थ है कि बलि याने नैवेद्य का दान करना, जिससे हजारों गरीबोंके पेट भरें, ऐसी नैवेद्य चढ़ाने से लोग आशीर्वाद दें, जिससे अपनी कामना पूर्ण हो, न कि दूसरे के प्राण की हिंसा हो; किन्तु जो लोग ऐसा न करके देवदेवियों को बकरा मार कर सन्तुष्ट करना चाहते हैं वे तो प्रत्यक्ष ही अन्याय करते हैं।

बकरीद के रोज मुसलमान लोग व्यर्थही असहस्त्र जीवोंके प्राण ले लेते हैं यदि खुदाके नामसे उनके किसी सच्चे फकीर से पूछा जाय तो वह अपने धर्मशास्त्र से भी इसे अन्याय ही कहेगा। क्योंकि जब खुदा दुनियां का पिता है तब दुनिया के बकरी, ऊंट, गौ वगैरह सभी प्राणियों का वह पिता हुआ, तो फिर वह खुदा अपने किसी पुत्र के मारने से खुशी किस तरह होगा ?, अगर होता हो तो उसे पिता कहना उचित नहीं है। और विचार दृष्टि से भी देखिये कि मुसलमान लोग जो एकही दातून को बहुत दिन अपने काम में लाते हैं उसका कारण यही है कि जहांतक हो दातून के लिये भी नयी २ वनस्पति को न काटना पड़े। अब रहा यह कि जो काल को मारने के लिये कुरान में सूचना दी है उसका बहुत से आधुनिक मुसलमान लोग तो सर्प, बीछू, सिंह, व्याघ्रादि अर्थ करते हैं; इसलिये उन जीवोंके मारने के लिये सभी बालक से लेकर वृद्ध

अवश्य धारण करना पड़ेगा । अत एव काल शब्द से आत्मा के वास्तविक शत्रु क्रोधादि को ही लेना चाहिये, और उनके ही मारने की पूर्ण चेष्टा करनी चाहिये । जो हिन्दू और मुसलमानों में आजतक महात्मा हुए है, वे सब दयाभाव से ही हुए हैं । और जैनों के लिये यह कथन तो सिद्धसाधनरूप है । क्योंकि पूर्वोक्त श्लोकों में दिखलाया गया है कि महात्मा पुरुष के प्रभाव से ही क्रूर जन्तु भी शान्त होगये हैं और हो जाते हैं, तब स्वभावसरल जीवों की कथा ही क्या है ? । योगवासिष्ठ में जो मोक्ष के चार द्वारपाल बताये गये हैं उनमें एक शम भी गिनाया गया है, क्योंकि शमशाली पुरुष, समस्त जीवों को विश्वासपात्र ही दिखाई देता है ।

यथा–

" मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः " ॥ ४७ ॥

यो० वा० पृष्ठ ४

" मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च ।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि " ॥ ६२ ॥

यो० वा० पृष्ठ ६

अर्थात्–मोक्षद्वार में शम, सद्विचार, सन्तोष, और साधुसमागमरूप चार द्वारपाल हैं, इन चारों द्वारपालों के विचार करने में पहिले ही शम का विचार किया है । उसमें पूर्वोक्त ६२ वें श्लोक में लिखा है कि शमशाली पुरुष से संपूर्ण क्रूरजन्तु और शान्तजीव विश्वास पाते हैं । अर्थात् जीवों को उनसे बिलकुल भय नहीं होता है, क्योंकि वे तो दयाप्रधान पुरुष हैं ।

जीवहिंसा करनेवाले जीवों की दुर्दशा कैसी होती है, देखिये–

यथा–

" श्वभ्रे प्राणिघातेन रौद्रध्यानपरायणौ ।

सुभूमो ब्रह्मदत्तश्च सप्तमं नरकं गतो " ॥ २७ ॥

पृष्ठ २०२ योगशास्त्र द्वितीय प्रकाश.

भावार्थ–सुना जाता है कि प्राणियों का घात करके रौद्रध्यान में तत्पर सुभूम और ब्रह्मदत्त दोनों सातवें नरक में गये। इसी कारण से जो लोग लङ्गड़े लूले होते हैं, सो तो अच्छा ही है, लेकिन संपूर्ण अङ्गवाला होकर भी जो हिंसा करता है वह ठीक नहीं है।

यथा–

" कुणिर्वरं वरं पङ्गुरशरीरी वरं पुमान् ।
अपि संपूर्णसर्वाङ्गो न तु हिंसापरायणः" ॥२८॥

पृष्ठ २६० यो० शा० द्वि० प्र०

इस श्लोक का भावार्थ ऊपर ही लिख दिया गया है। यदि यहाँ पर कोई शङ्का करे कि जिस हिंसा से रौद्रध्यान हो, वह नहीं करनी, किन्तु शान्ति के लिये की हुई हिंसा से तो रौद्रध्यान नहीं होता, इसलिये वह हिंसा तो निर्दोष है। इसके उत्तर में हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि–

" हिंसा विघ्नाय जायेत विघ्नशान्त्यै कृताऽपि हि ।
कुलाचारधियाऽप्येषा कृता कुलविनाशिनी" ॥ २९ ॥

पृष्ठ २६० यो० शा० द्वि० प्र०

याने विघ्न की शान्ति के लिये की हुई हिंसा भी, उलटे विघ्न की ही करनेवाली होती है। जैसे किसीकी कुल की रीति है कि अमुक दिन हिंसा करनी चाहिये; किन्तु वह हिंसा भी कुल का नाश करनेवाली ही है। देखिये कुलक्रम से प्राप्त भी हिंसा को छोड़कर कालसौकरिक कसाई का पुत्र सुलस कैसा सुखी हुआ ?।

यथा–

" अपि वंशक्रमायातां यस्तु हिंसां परित्यजेत् ।
स श्रेष्ठः सुलस इव कालसौकरिकात्मजः " ॥३०॥

यो० शा० पृ २६१ द्वि०प्र०

यदाह–

"अवि इच्छन्ति य मरणं न य परपीडं कुणन्ति मणसा वि।
जे सुविइअसुगइपहा सोयरिअसुओ जहा सुलसो"॥ १ ॥

यो॰ द्वि॰ २६१

तात्पर्य–कुल क्रम से प्राप्त हिंसा को भी त्याग करना चाहिये, हिंसा त्याग करने से जैसे कालसौकरिक कसाई का पुत्र सुलस श्रेष्ठ गिना गया है।

प्राकृत गाथा का भावार्थ–जो पुरुष मृत्यु की इच्छा तो करता है परन्तु दूसरे को दुःख देने की मन से भी इच्छा नहीं करता है, वह उत्तम रीति से सुगति के मार्ग का ज्ञाता होता है, जैसे कालसौकरिकपुत्र सुलस के कुटुम्ब ने उसे हिंसा करने के लिये बहुत ही प्रेरणा की, किन्तु उसने हिंसा नहीं की। यह दृष्टान्त विस्तार से योगशास्त्र में लिखा हुआ है। उसका सार यही है कि जब सुलस के कुटुम्ब ने अनेक युक्ति से हिंसा करने के लिये उसे बाध्य किया, यहाँ तक कि सुलस के पाप में भी भाग लेने को कबूल किया। तब सुलस लाचार हो कुहाड़ा लेकरके तो चला, किन्तु अपने कुटुम्ब के अन्तःकरण में प्रतिबोध करने के आशय से तथा स्वयं हिंसा से सर्वथा छूटने के विचार से जान बूझ कर उसने अपने ही पैर पर कुहाड़ा मारलिया। जिससे उसका पैर रुधिर और मांस से पूर्ण दिखाई देने लगा, तदनन्तर उसके चिल्लानेपर सभी कुटुम्ब इकट्ठा हुआ। उसके बाद जब उनलोगों के उचित रीति से दवा वगैरह करने पर भी सुलस की वेदना शान्त न हुई, तब उसने अपने कुटुम्ब से यह कहा कि हमारे दुःख में से थोड़ा थोड़ा तुमलोग भी बाँटलो। उस समय एक वृद्ध ने उत्तर दिया कि किसीकी वेदना क्या किसीसे बाँटी जा सकती है!। तब तो सुलस बोला कि जब तुमलोग प्रत्यक्ष दुःख के भागी नहीं हो सकते हो तो क्या परोक्ष नरकादि दुःख में भाग लेने की शक्ति तुमलोगों में है!, जो मुझको

झूठ मूठ हिंसा में फँसाते हो ? । इत्यादि अनेक युक्तिद्वारा बेचारा सुलस पाप कर्म से किसी प्रकार मुक्त हुआ । शास्त्रकारों ने इसीलिये तो सुलस को श्रेष्ठ दिखलाया है ।

जो कोई प्राणी इसी तरह जीवहिंसा का त्याग करेगा वही श्रेष्ठ गिना जायगा । किन्तु शान्ति के लिये जो पुरुष हिंसा करते हैं वे तो मूर्ख ही हैं; क्योंकि दूसरे की अशान्ति उत्पन्न करके अपनी शान्ति करनेवाले को विचारशून्य पुरुष समझना चाहिये । अतएव बहुत जगह जब कोई उपद्रव होता है तब धर्मात्मा पुरुष तो ईश्वर भजन, दान, पूजादि करते हैं, किन्तु नास्तिक और निर्दय मनुष्य प्रायः बलिदान देने की कोशिश करते हैं और अन्त में वे लोग भद्रिकलोगों को भी उस उन्मार्ग पर लेजाते हैं ।

यथा–

" विश्वस्तो मुग्धधीर्लोकः पात्यते नरकावनौ ।
अहो ! नृशंसैर्लोभान्धैर्हिंसाशास्त्रोपदेशकैः " ॥ १ ॥

पृष्ठ २७६ यो० शा० द्वि० प्र०

भावार्थ–विचारे विश्वासू भद्रिक बुद्धिवाले लोग भी निर्दय, लोभान्ध और हिंसा शास्त्र के उपदेशकों से वञ्चित होकर नरकभूमि में जाते हैं; अर्थात् वे निर्दय, अपने भक्तों को नरक में ले जाते हैं।

यह कुरीति तो गुजरात आदि सामान्य देश में भी प्रचलित है, याने निर्दय मनुष्य बकरे वगैरह जीव को मारकर अशान्ति से शान्ति चाहनेवाले दिखाई पड़ते हैं; इसीलिये महाशान्त–स्वभाव के पक्षपाती भी, हेमचन्द्राचार्य आदि आचार्यों ने जीवदयापर अत्यन्त प्रीति रखने के कारण हिंसाशास्त्र के उपदेश करनेवाले पुरुषों को नास्तिकाति-नास्तिकशब्द से कहा है ।

यथा–

" ये चक्रुः क्रूरकर्माणः शास्त्रं हिंसोपदेशकम् ।
क्व ते यास्यन्ति नरके नास्तिकेभ्योऽपि नास्तिकाः?"॥२७॥

भावार्थ-जिन मूर्खमानों ने हिंसोपदेशक शास्त्रों को रचा है, वे नास्तिकों से भी नास्तिक होने के कारण किस नरक के भागी होंगे यह नहीं मालूम पड़ता है ।। अर्थात् वे चाहे अपने मनमें आस्तिक होनेका दावा भलेही करें, वस्तुतः तो वे नास्तिकों से भी नास्तिक हैं । क्योंकि नास्तिकों के फन्दे में साधारण भी मनुष्य सहज में नहीं आते, इसलिये वे लोग आस्तिकों का वेष धारकर मुग्धजनोंको विश्वास दिलाते हैं, अतएव वे बेचारे अनभिज्ञ अनर्थकारिणी हिंसा आदि निन्दनीय कृत्यों को भी धर्मही मानने लगते हैं ।

जिस हिंसा का दोष कदापि छूटही नहीं सकता उस हिंसा करनेवाले की नरकगति हिंसोपदेशकों ने भी अवश्य मानी है. किन्तु विचार करने से मुझे तो यही मालूम होता है कि जब हिंसोपदेशकलोग सत्यवक्ताओं से युक्तिपूर्वक विचार में परास्त होने लगे हैं तब डरकर अपने भक्तों के पास अपने सत्यवक्ता होने का घमण्ड रखने के लिये उन्होंने यह लिखा है कि यज्ञ, मधुपर्क, श्राद्ध और देवपूजा आदि में जो हिंसा की जाती है उसका फल यद्यपि स्वर्ग है, तथापि साथही साथ हिंसाजन्य पाप से नरकादि दुःख भी भोगना पड़ता है । इससे दुनिया के लोग उन्हें सत्यवक्ता मानते हैं कि 'देखिये यह ऐसे सत्यवक्ता हैं कि अपनी हार्दिक कुछ भी बात छिपी नहीं रखते' । परन्तु अपने सत्यवक्ता कहाने के लिये ही हिंसा में दोष उन्होंने माना है अन्यथा वे कदापि दोष न मानते ।

वर्तमान समय में जीवदयापालक मनुष्यों को देखकर याज्ञिक लोग, हिंसा की पुष्टि विशेष करते हैं और क्षत्रियों के लिये तो वे लोग हिंसा करना धर्मही बतलाते हैं और कहते हैं कि क्षत्रिय लोगोंको मृगया (शिकार) करने में कुछ भी दोष नहीं है, क्योंकि मांसाहार न करने पर शत्रुओं से देश की रक्षा होही नहीं सकती । ऐसे अनेक कारण दिखाते हैं, किन्तु वे उनकी युक्तियां बुद्धिमान पुरुषों को ठीक नहीं मालूम देती हैं । देखिये शिकार के लिये दोष न मानना

सो राजाओं के प्रिय होने के लियेही लिखा है, क्योंकि यदि शिकार करने में दोष न होता तो धर्मिष्ठ राजा लोग उसको क्यों छोड़ते ?। और युक्ति से भी देखा जाय तो राजा का धर्म यही है कि निरपराधी जीव की रक्षाही करे न कि उसको मार डाले। अतएव निरपराधी जीवों को मारने वाले क्षत्रियों के पुरुषार्थ को महात्मा लोग एक प्रकार से तिरस्कारही करते हैं कि–

" रसातलं यातु यदत्र पौरुषं क नीतिरेपाऽशरणो यदोषवान्।
निहन्यते यद् बलिनाऽतिदुर्बलो हहा! महाकष्टमराजकं जगत्" ।
" पदे पदे सन्ति भटा रणोत्कटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते।
धिगीदृशं ते नृपते! कुविक्रमं कृपाऽऽश्रये यः कृपणे मृगे मयि" २।

भावार्थ–जो दुर्बल जीव बली से मारा जाता है इस विषय में जो पौरुष है वह रसातल को चला जाय; और अदोषवान् याने निर्दोष जीव अशरण हो अर्थात् उसका कोई रक्षक न हो यह कहाँ की नीति है; बड़े कष्ट की बात है कि विना न्यायाधीश संसार अराजक हो गया है।

दूसरे श्लोक में कवियोंने हरिण का पक्ष लेकर अहिंसा धर्म का उपदेश राजाओं के करने के लिये युक्तिपूर्वक उत्प्रेक्षा की है कि–हे क्षत्रियो ! यदि तुम्हारे अन्तःकरण में स्थित हिंसा का रस तुम्हें पूर्ण करना हो तो स्थान स्थान में लाखों जो संग्राम में भयङ्कर सुभट तैयार हैं, क्या वहां पर वह रस तुम्हारा पूर्ण नहीं हो सकता है ?। अर्थात् उनलोगों से लड़कर यदि शस्त्रकला को सफल करो तो ठीक है; किन्तु कृपा करने के लायक और कृपण मेरे ऐसे बेचारे मृग में जो हिंसारस को पूर्ण करना चाहते हो इसलिये इस तुम्हारे दुष्ट पराक्रम को धिक्कार है।

विवेचन–क्षत्रियों का धर्म शस्त्रवान् शत्रु के संमुख होने के लिये ही है, किन्तु वह भी योग्य और शास्त्रयुक्त और नीतिपूर्वक, निष्कपट होकर, तथा इतनाही नहीं किन्तु उत्तमवंशी वीर राजा के साथही करना चाहिये।

भावार्थ-निश्चलभाव को प्राप्त होकर अहिंसा धर्म को न जानकर अपने को अच्छा मानने वाला जो असाधु पुरुष पशुओं से द्रोह करता है, वह उन पशुओं से दूसरे जन्म में अवश्य खाया जाता है। और श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है कि-

" आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः" ॥३२॥

अध्याय ६ पत्र ११९ बहुत छोटा गुटका।

भावार्थ-जो महात्मा सब में अपने समानहीं सुख और दुःख दोनों मानता है वही परम योगी माना जाता है।

अब विचारने की बात है कि-

"स्वच्छन्दं वनजालेन शाकेनापि प्रपूर्यते ।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं महत् ?" ॥१॥

भावार्थ-यदि वन में उत्पन्न हुए शाक से भी स्वच्छन्दता पूर्वक उदर पूर्ण होजाता है तो इस नष्ट उदर के वास्ते कौन पुरुष घोर पाप करे ?।

देखिये, क्रूर काम करने वाले अपनी क्षणभर की तृप्ति के लिये अन्य जीवका जन्म नष्ट करते है क्या यह कोई बुद्धिमान् पुरुष योग्य मानेगा ? ! क्योंकि अपने अङ्ग में एक सुई लगने से भी जब दुःख होता है, तो तीक्ष्ण शस्त्रोंमे निरपराधी जीवोंका नाश करना क्या उचित है ? । प्रसंगानुसार 'बकरीविलाप' द्वारा जो सुन्दर उपदेश भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने किया है सो भी नीचे दिखलाया जाता है-

मानुप जनमों कठिन कोउ, जन्तु नाहिं जगबीच ।
विकल छाड़ि मोहि पुत्र लै, हनत हाय सब नीच ॥
वृथा जवन को दूसहीं, करि वैदिक अभिमान ।
जो हत्यारो मोह जवन, मेरे एक समान ॥
धिक् २ ऐसो धर्म जो, हिंसा करत विधान ।
धिक् २ ऐसो स्वर्ग जो, बध करि मिलत महान ॥

शासन को सिद्धान्त यह, पुण्य सु परउपकार।
पर पीड़न सों पाप फलु, यदि के नहिं संसार ॥
अशन में जप जग्य यदि, अरु सुभ सात्विक धर्म।
सब धर्मन सों श्रेष्ठ है, परम अहिंसा धर्म ॥
पूजा लै कहुँ तुष्ट नहिं, धूपदीप फल अन्न।
जो देवी बकरा बधे, केवल होत प्रसन्न ॥
हे विश्वम्भर! जगतपति! जगस्वामी जगदीस!।
हम जगके बाहर कहा, जो काटत मम सीस ॥
जगमाता! जगदम्बिके! जगतजननि! जगरानि!।
तुम सन्मुख तुम सुतनको सिर काटत क्या जानि!॥
क्यों न खींच के खड्ग तुम, सिंहासन तें धाय।
सिर काटत सुत बधिक को, क्रोधित बलि ढिग आय ॥
त्राहि २ तुमरी सरन, मैं दुखनी अति अम्ब!।
अय लम्बोदरजननि बिनु मो को नहिं अवलम्ब ॥

अब मांसाहार के लिये कबीर जी आदि महात्माओं ने क्या कहा है!, उसे देखिये—

"माँस अहारी मानई, प्रत्यक्ष राक्षस जान।
ताकी संगति मति करै, होइ भक्ति में हानि" ॥ १ ॥
"माँस खाय ते ढेढ़ सब, मद पीवैं सो नीच।

---

१ कबीर के प्रमाण देने से कबीर को हम कुछ प्रामाणिक पुरुष नहीं समझते। एक समय कबीर की साखी नाम की पुस्तक छपी है, वह भी ठीक नहीं है। कबीर की भाषा बहुत जगह भ्रामक है उन्हें स्याद्वादभाषा का ज्ञान नहीं मालूम पड़ता है। और उनका जैन रागद्वेष से भी पूर्ण हमें दिखाई देता है, यह बात साखी के अन्तिम दर्शननिन्दापरक वचनों से ही मालूम होती है। जिसमें उन्होंने जैनदर्शन की स्वयं असत्य आक्षेपों द्वारा निन्दा की है। तथापि उनमें दयादि सामान्य गुणों का पुष्टि करने वाला गुण, अवश्य प्रशस्य था। इसलिये उनकी अहिंसा वाक्य जीवों को आनन्दित होने से यहाँ पर दी जाती है।

भावार्थ-जूआ, मांसाहार, सुरापान, वेश्यागमन, शिकार, चोरी, और परदारागमन- ये सात व्यसन, मनुष्यों को घोर से भी घोर नरक को प्राप्त करते हैं।

विवेचन-पापर्धि, मृगया, ये सब शिकार के नाम हैं, नाम से सिद्ध होता है कि जिसमें पाप की ऋद्धि हो वह पापर्द्धि है और व्यसन शब्द से सिद्ध होता है कि शिकारादि कृत्य महाकष्टमय है इतना दोष होने पर भी राजा का धर्म शिकार करना जो मानते हैं वे भी किसी भ्रम में जो तत्त्वज्ञानी माने जाते हैं यह भी एक देखने लायक बात है। कदाचित् कोई आदमी यह साहस करके कहे कि शिकार करनेवाला शस्त्रविद्या में यदि कुशल हो तो देशरक्षा इसके द्वारा विशेष होगी, इसलिये ही राजाओं को शिकार में दोष नहीं माना है। इसका उत्तर यह है कि अपने को कुशल बनने के लिये अन्यजीवों का कुशल उच्छेद करना क्या मनुष्यों के लिये उचित है? कदापि नहीं। प्राचीन पुरुष जो निशानेबाज होते थे तो क्या वे जीव मारने से ही होते थे?; नहीं, किन्तु एक ऊँचे स्थान पर नींबू या और कोई चीज रख कर उसको उड़ाते थे, जब वे स्थिर निशानों में कुशल हो जाते थे उसके बाद अस्थिर निशानों का अभ्यास करते थे। याने सूखे मिर्च को डोरी से ऊँचे टाँगते थे जब वह वायु के जोरसे हिलने लगता था तब उसे गोली से उड़ाते थे। इत्यादि अनेक प्रकार की अहिंसामय क्रिया से कुशलता प्राप्त करते थे, जैसे वर्तमान समय में भी कई एक अङ्गरेज लोग झूठा पशु बनाकर उसपर घोड़ाओं को दौड़ाते हैं तथा निशानों पर पूर्वोक्त कोई चीज रखकर अभ्यास करते हैं। जब सीखने के लिये अनेक रास्ते हैं तो अन्य को दुःख देकर स्वय कुशल बननेवाले को कोई बुद्धिमान उचित नहीं गिनता। यदि राजा महाराजा को युद्ध करने के लिये शिकार करने की आज्ञा दी हो तो हम नहीं कह सकते हैं, क्योंकि कभी २ दाक्षिण्यता भी दुर्जनता का काम कर जाती है; किन्तु स्वार्थान्धता ही अनर्थ को उत्पन्न

करती है । शिकार में कोई दोष न मानना, और शिकार गम्य का भूषण कहना इत्यादि दाक्षिण्य और स्वार्थान्धता ही से है । मांसाहार की जीवहिंसा में जो दोष माना है उसे मैं पुराणों के द्वारा पहिले ही सिद्ध कर चुका हूँ ।

सुश्रुत में भी कहा हुआ है कि–

" पाठीनः श्लेष्मलो वृष्यो निद्रालुः पिशिताशनः ।
दूषयेद्रक्तपित्तं तु कुष्ठरोगं करोत्यसौ ॥ ८ ॥

सुश्रुत, पृष्ठ १९८

भावार्थ–मत्स्य श्लेष्माकारक, वृष्य, निद्राकारक और मांसभक्षी होता है; और अम्ल पित्त को दूषित करता हुआ कुष्ठ रोग उत्पन्न करता है ।

भिन्न भिन्न दर्शनकारों के भिन्न भिन्न आशय के द्वारा भिन्न भिन्न रीति से माने हुए आत्मतत्त्व के भिन्नता के कारण हिंसा शब्द में जब तक विवाद दृष्टि गोचर होता है तब तक अहिंसा धर्म की सिद्धि होनी अशक्य है । अतएव तत्संबन्ध में थोड़ा लिखकर इस निबन्ध को समाप्त करना चाहता हूँ । कितने ही दर्शनकार आत्मा और शरीर को एकान्त रीति से भेद मानते हैं । उनके अभिप्रायानुसार शरीर के छेदन, भेदन दशा में हिंसा नहीं मानना चाहिये; क्योंकि आत्मा शरीर से एकान्ततः भिन्न है । और एकान्त देहात्मा को अभिन्न मानने वाले महात्माओं के सिद्धान्तानुसार तो परलोकभाव और हिंसा भी नहीं सिद्ध होसकती है, क्योंकि देह के नाश में देही आत्मा का भी नाश होगा, तब आत्मा घट पट की तरह अनित्य हुआ, तो फिर जैसे घट पट के नाश से कोई हिंसा नहीं मानता वैसेही अनित्य आत्मा के नाश से न तो हिंसा होगी और न कोई परलोकगामी होगा, और जब परलोकगामी कोई नहीं होगा तो परलोक का ही अभाव सिद्ध होगा । अतएव कथंचित् शरीर से भिन्नाभिन्नता से ही जीव की स्थिति अङ्गीकार करनी चाहिये; यदि

किसी प्रकार से तो आत्मा शरीर से भिन्न है और किसी प्रकार से अभिन्न है ऐसा युक्तियुक्त माना जाय तब जो शरीर नाश के समय पीड़ा उत्पन्न होती है उसे हिंसा कहते हैं; और शरीर नाश होने से आत्मा पदार्थ दूसरी गति प्राप्त करता है इसलिये परलोक भी सिद्ध होता है । हिंसा का स्वरूप इस प्रकार तत्त्ववेत्ताओं ने दिखलाया है । यथा–

"दुःखोत्पत्तिर्मनःक्लेशस्तत्पर्यायस्य च क्षयः ।
यस्यां स्यात् सा प्रयत्नेन हिंसा हेया विपश्चिता" ॥ १ ॥

भावार्थ–जिसमें दुःख की उत्पत्ति, मन को क्लेश, और शरीर के पर्यायों का क्षय होता हो, उस हिंसा को यत्नपूर्वक बुद्धिमान पुरुषों को त्याग करना चाहिये। विषय, कषाय, निद्रा, मादक वस्तुओं का पान करना, विकथादिरूप प्रमाद से दुःखोत्पत्ति, मन क्लेश, और जीव से धारण किये हुए शरीर का नाश करना ही हिंसा मानी जाती है । यह हिंसा संसाररूप वृक्ष के बढ़ाने के लिये अमोघ बीज है । यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि योगी भोगी दोनों को चलने फिरने से हिंसा लगती है तो किस प्रकार संसाररूप वृक्ष का नाश हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि प्रमादी (अज्ञानी) पुरुष बिना उपयोग भी क्रिया किया करता है, उससे जीव चाहे मरे, या न मरे यह दूसरी बात है, किन्तु हिंसा का पाप तो उस प्रमादी के शिरपर चढ़ता ही है परन्तु अप्रमादी पुरुष उपयोगपूर्वक गमनागमनक्रिया करता है यदि कदाचित् उससे जीव मर भी जाय तो हिंसाजन्य दोष उसके शिरपर शास्त्रकारों ने नहीं माने हैं; क्योंकि परिणाम से ही बन्ध होता है, अतएव राजकीय न्याय भी इसीके अनुसार होता है, अर्थात् मारने के इरादे से ही मारनेवाले को फांसी होती है, और मारने की इच्छा न करने पर अगर किसी कारण से कोई जीव मर जावे, तो उसे फांसी नहीं मिलती, बल्कि निर्दोष समझकर छोड़दिया जाता है । क्यों कि हिंसा न करने पर भी करने के इरादेमात्र से ही बहुत से पुरुषों को देशपार स्वरूप ...

युक्त दण्ड दिया जाता है। वैसेही प्रमादी पुरुष के हाथ पैर से कदाचित् जीव न भी मरे, तो भी परिणाम की शुद्धि न होने से दोष का पात्र तो वह अवश्य गिना जाता है और अप्रमादी पुरुष यत्नपूर्वक कार्य करे और फिरभी भावीभाव के योग से यदि कदाचित् कोई जीव मर भी जाय तो भी हिंसाजन्य दोष उसके शिरपर नहीं पड़ता इस तरह तत्त्ववेत्ताओं का अभिप्राय है। दशवैकालिक सूत्र में भी शिष्य इसतरह गुरु से प्रश्न करता है कि–

"कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ" ॥ १ ॥

भावार्थ–कैसे चलें और कैसे खड़े हों और कैसे बैठें तथा कैसे सोवें और कैसे खावें और कैसे बोलें जिसमें पाप कर्म मुझसे न हो?।

आचार्य उत्तर देता है कि–

"जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ" ॥ १ ॥

भावार्थ–यत्नपूर्वक चलो, यत्नपूर्वक खड़े हो, यत्नपूर्वक बैठो और यत्नपूर्वक सोवो, यत्नपूर्वकही खाओ और यत्नपूर्वक बोलो तो पाप कर्म नहीं लगेगा। अर्थात् उपयोगपूर्वक कार्य करने से हिंसाजन्य दोष से दूषित मनुष्य नहीं होता है। अतएव योगी और भोगी के विषय में प्रश्नकरनेवाले को पूर्वोक्त कथन से सन्तोष मिलेगा। किन्तु एकान्तरूप से आत्मा को नित्यमाननेवाले और एकान्त पक्ष में आत्मा को अनित्य माननेवाले के मन्तव्यानुसार दोनों पक्ष में हिंसा शब्द का व्यवहार नहीं होगा। क्योंकि एकान्त आत्मा के नित्य माननेवाले के पक्ष में आत्मा अविनाशी है अर्थात् उसका नाश होनेवाला नहीं है। इसीतरह अनित्य पक्षवालों के मत में भी आत्मा प्रतिक्षण विनाशी होने से स्वयं नष्ट होनेवाला है उसका नष्टकरनेवालाप्रमाद दुर्घट है, तो फिर हिंसा किसकी ?। जहां हिंसा शब्द का प्रयोग ही नहीं है वहां अहिंसा धर्म की महिमा आकाशकुसुम के समान [illegible] ठहरेगी।

अतएव स्याद्वादमतानुसार कथञ्चित् नित्यानित्यभाव आत्मा में स्वीकार करना ही होगा, तब परिणामी आत्मा का उत्पाद, व्यय होने में कुछ भी विरोध नहीं आवेगा। और उत्पाद व्यय होने से भी पदार्थ का मूलस्वरूप जो सद्भावाव्ययरूप नित्यत्व है वह बनाही रहता है। नित्यैकान्तवादी नित्य का लक्षण 'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्' इस तरह करते हैं। अर्थात् जो न कभी पतनको प्राप्त हो, और न उत्पन्न हो, ऐसी स्थिर जो वस्तु है वह नित्य है। किन्तु यह संसारी जीव में लक्षण नहीं घटेगा, क्योंकि जन्म मरणादि क्रिया आत्मा के जीवपरत्व में ही दिखाई देती है। इसी तरह एकान्त अनित्य पक्षमें अनित्य का लक्षण 'तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगिकत्व' है, अर्थात् प्रथम क्षण में सभी पदार्थों की उत्पत्ति, और द्वितीय क्षण में स्थिति, और तृतीय क्षण में नाश होता है ऐसे माननेवालों के मतानुसार सांसारिक व्यवहार मुव्यवस्थित नहीं बनेगा। क्योंकि पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से आत्मा, अनेक नर तिर्यञ्चादि पर्यायादि का अनुभव करता है, अतएव अनित्य है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से आत्मा अच्छेदी, अभेदी, अविनाशी शुद्ध, बुद्ध, अविकारी, असङ्ख्यप्रदेशात्मक, सच्चिदानन्दमय पदार्थ है और इसी आत्मा को प्राण से मुक्त करने को ही हिंसा कहते हैं। यह हिंसा आत्मा में युक्तियुक्त नित्यानित्यभाव मानने ही में सिद्ध होती है। अत एव हिंसा के त्याग करने को ही अहिंसा धर्म कहते हैं। विपर्यास-बुद्धिवाले पुरुष कुतर्काधीन बनकर कहते हैं कि घातकजन्तुओं के मारने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक जीव के मर जाने से अनेक जीव बचाये जायँगे। किन्तु जो लोग ऐसा मानते हैं उनकी भूल है। क्योंकि संसार में प्रायः समस्त प्राणी किसी न किसी अंश में किसी जीव के हिंसक दिखाई देते ही हैं तो पूर्वोक्त न्यायानुसार सभी जीवों के मारने का अवसर प्राप्त होगा, तब तो लाभ के बदले उलटी हानि ही होगी। अतएव हिंसक जन्तुओं के मारने को धर्म

मानना सर्वथा अनुचित है। चाहे हिंसक हो चाहे अहिंसक हो, सभी प्रकार के जीवों को भय से मुक्त करने में परम धर्म है; क्योंकि परिणाम में बन्ध और क्रिया में कर्म दिखलाया है।

चार्वाक के संबन्धी संसारमोचक कहते हैं कि– दुःखित जीवों को मारदेने से उनके दुःख का नाश होजाता है और दुःख से जीवों को मुक्त करना ही परम धर्म है। ऐसी स्थूल युक्ति से धर्ममानने-वाले यदि थोडी भी दीर्घदृष्टि से देखते तो ऐसी भारी भूल में कभी न पड़ते। यद्यपि हाथ, पांव के टूट जाने से, अथवा ज्वरादि वेदना से विह्वल जीवों को देख करके मारने की क्रिया उनके सुख के लिये गोली से वे भले ही करें किन्तु वास्तविक रीति से देखा जाय तो स्वल्प वेदनावाले को अत्यन्त वेदनावान् बनाते हैं। क्योंकि जो जीव इस भव में स्वल्प वेदना का अनुभव करता था वही परलोक में अन गर्भादि की अनन्त वेदना सहन करेगा। तथा पूर्व वेदना से जो अधिक गोली लगने से वेदना होती है यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है इसलिये वे जीव आर्तरौद्रध्यान वाले होने से नरकादि गति के भागी होते हैं। अतएव दुःख से मुक्त करने के आशय से गोली मारना उनका भ्रान्तिरूप ही है। यदि यह आशय सच्चा भी हो तो जिस तरह पशुओं की पीड़ा छुड़ाना चाहते हैं उसी तरह अपने माता पिता को भी दुःखित देखकर उन्हें मारकर उस दुःख से उन्हें मुक्त क्यों नहीं करते हैं। क्योंकि मनुष्य को सर्वत्र समान दृष्टि ही रखना उचित है। दुःखी प्राणियों के मारने में धर्म माननेवालों को सुखी जीवों का भी वध करना चाहिये, जिससे कि उन जीवों से [illegible] पाप कर्म न होने पावें। इत्यादि अनेक असंगत आपत्तियां आ पड़ती हैं, इसलिये संसारमोचकों को उचित है कि कुयुक्ति का [illegible] से [illegible] संसारमोचक बनें। [illegible] चार्वाक को [illegible] कहते हैं कि [illegible] दिखता नहीं है तो [illegible] है कि [illegible] (पृथिव्यादि) में [illegible]

चलनादि सभी क्रिया उत्पन्न होती है, जैसे–ताड़ी, गुड़, आटा वगैरह पदार्थ से एक मादकशक्ति विचित्र उत्पन्न होती है। उस शक्ति के प्रध्वंसाभाव में ही लोग मरण का व्यवहार करते हैं, किन्तु मरने के बाद कोई भी परलोक में नहीं जाता। क्योंकि जब आत्मा पदार्थ की सत्ताही नहीं है तब परलोक प्राप्ति कहां से होगी और परलोक का कारण पुण्य पाप जब सिद्ध नहीं हुआ तब पुण्य पाप का कारण धर्म अधर्म भी सिद्ध न होगा। और धर्म अधर्म की अभ्न दशा में तप, जप, योग, ज्ञान, ध्यान आदि क्रिया सब विडम्बना प्राय है, इत्यादि कुविकल्प करनेवाले चार्वाकों को समझना चाहिए कि पूर्वोक्त युक्ति बतानेवाला कोई पदार्थ चार्वाक के पास है या नहीं। और यदि है तो वह पदार्थ जड़रूप है या ज्ञानरूप?। यदि जड़रूप है तो जड़ में ऐसी शक्ति नहीं है कि आस्तिकों को नास्तिक बना सके। और यदि ज्ञानरूप कहा जाय तो जड़ से अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध होगा। क्योंकि चार या पांच भूतों से शक्ति उत्पन्न होने में जो दृष्टान्त दिया जाता है वह विषम दृष्टान्त है क्योंकि ताड़ी वगैरह पदार्थ में मदशक्ति तो होती है किन्तु पृथिव्यादि पदार्थों में ज्ञान गुण नहीं होता अतएव पञ्चभूतों से उत्पन्न होनेवाली शक्ति में क्या ज्ञान गुण दिखाई पड़ता है?। तथा जो शक्ति हमारे तुम्हारे में है वह भी भिन्न स्वभाववाली दिखाई देती है; इसी तरह अन्य में भी अन्य प्रकारकी मालूम पड़ती है। अतएव वह शक्ति भूतों से सर्व प्रकार स्वतन्त्र माननी पड़ेगी, तथा कर्माधीन भी माननी होगी। क्योंकि विचित्र प्रकार के कर्मों से विचित्र स्वभाववाली देख पड़ती है। उसी शक्ति को आस्तिकलोग आत्माशब्द से कहते हैं। किन्तु यदि चार्वाक लोगों से प्रकारान्तर से पूछा जाय कि तुम लोग नास्तिक मत की दृढ़ता के लिये जो हेतु देते हो वह प्रामाणिक है या अप्रामाणिक?। अप्रामाणिक तो नहीं कहसकते, क्योंकि सारा कर्तव्य ही तुम्हारा अप्रामाणिक हो जायगा। और प्रामाणिक पक्ष में प्रश्न उठता है कि उसमें प्रमाण प्रत्यक्ष है या परोक्ष?। परोक्ष प्रमाण को तो परलो-

फादि के मानने के डर से तुम नहीं मान सकोगे। अब केवल प्रत्यक्ष बचता है। क्योंकि 'प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः' यदि प्रत्यक्ष प्रमाण को ही प्रमाण मानोगे तो वह तुम्हारा प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमाणीभूत है या नहीं, ऐसा कहने वालों को समझाना पड़ेगा। जो प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमाणीभूत है तो कौन प्रमाणसे प्रमाणीभूत है ?; इस पर यदि कहोगे कि प्रत्यक्ष से, तो वह प्रत्यक्ष प्रमाणीभूत है, या नहीं; इत्यादि अनवस्थादोष आ जायगा; इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रमाण मानने के लिये अनुमान करना पड़ेगा, जैसे प्रत्यक्षं प्रमाणं, अव्यभिचारित्वात्, यदव्यभिचारि तत् प्रमाणं, यथा घटज्ञानम्, इत्यादि अनुमान का आधार, प्रत्यक्ष की प्रमाणता स्वीकार करने में लेना पड़ेगा। सो फिर जब अनुमान अनायास सिद्ध हुआ तो आत्मा पदार्थ भी सिद्ध होगया। क्योंकि-" अस्ति ननु आत्मा, सुखदुःखादि संवेदनवत्वात्, यः सुखदुःखादिसंवेदनवान् स आत्मा, यथा अस्मदात्मा" इत्यादि युक्तियों से आत्मसिद्धि होने के बाद, परदेहादि में भी आत्मा की सिद्धि होगी। सो फिर आत्मसिद्धि होनेके बाद परलोकादि की सिद्धि स्वाभाविक हो जायगी, और परलोकादि भी पुण्यपाप से सिद्ध हुआ तो धर्माधर्म भी सिद्ध ही है। धर्माधर्म की व्यवस्था में, तप, जप, ज्ञान, ध्यानादि सभी इष्ट साधक हैं। सिवाय भी इनको जो निष्फल कहते हैं उन्हें विचारपूर्वक कहना चाहिये। और जहाँ पर आत्मा पदार्थ सिद्ध है वहाँ पर अहिंसा का विचार युक्तिसिद्ध है। यद्यपि बहुत से लोग शरीर को ही आत्मा मानते हैं तथा बहुत से लोग इन्द्रिय को ही आत्मा मानते हैं। इत्यादि अनेक तरह के कल्पितमतवाले दुनियाँ में फैले हुए हैं। जिनमें बहुतेरों की तरह अधिक लोग [illegible] कष्ट को पाते हैं। उन लोगों का आश्रय लेकर यथार्थज्ञान मार्ग [illegible] की जो चेष्टा करना है वही [illegible] है।

शरीर और इन्द्रियों को आत्मा मानने में बाधक [illegible] के [illegible]

पूछा जाय कि मृतावस्था में शरीर तो वैसाही बना रहता है
पहिले की तरह उसमें चेष्टा क्यों नहीं देखी जाती! । उसके उत्त
लोग यदि यह कहें कि वैसी एक शक्ति का उसमें अभाव होगय
तो उनसे यह पूछना चाहिये कि वह तुम्हारी शक्ति शरीर से
है या अभिन्न ! । अभिन्न पक्ष का आश्रय नहीं लिया जा सकत
क्योंकि अभिन्न हो तो फिर मृत शरीर में भी वह शक्ति हो
चाहिये । भिन्न मानोगे तो वह शक्ति चिद्रूप है या अचिद्रूप !
अचिद्रूप पक्ष मानने में, अहं सुखी, अहं दुःखी यह प्रत्यय (ज्ञान
नहीं होगा । और यदि चिद्रूप मानोगे तो शब्दान्तर से शरीर से
भिन्न आत्मा ही सिद्ध हुआ। अब इन्द्रिय को आत्मा मानने वाले का
भ्रम दूर किया जाता है । इन्द्रिय को आत्मा माननेवालों के मत में
जो सामुदायिक ज्ञान होता है अब वह नहीं होना चाहिये । अर्थात्
मैंने सुना और मैंने देखा, तथा मैंने स्पर्श किया इत्यादि सामुदा-
यिक प्रतीति आबालगोपाल को जो होती है वह नहीं होगी । क्यों-
कि सुननेवाला तो कर्णेन्द्रिय है और देखनेवाला चक्षुरिन्द्रिय है,
तथा गन्धग्राहक घ्राणेन्द्रिय है एवं रसलेनेवाला रसनेन्द्रिय है,
और स्पर्श करनेवाला स्पर्शेन्द्रिय है । तो जब इन्द्रियादि ही आत्मा
तुम्हारे मत में हैं तो तत्तत् इन्द्रियों से भिन्न भिन्न ज्ञान होना चाहिये
किन्तु वैसा न होकर सामुदायिक ज्ञान होता है । अतएव इन्द्रियों
का एक नायक आत्मा अवश्य होना चाहिये । ऐसा न हो तो मृता-
वस्था में इन्द्रियाँ तो नष्ट नहीं होती है किन्तु ज्ञान नहीं होता ।
उसका कारण वहां पर आत्मा का अभाव होनाही मानना पड़ेगा ।
क्योंकि आत्मा शरीर और इन्द्रियों को छोड़कर गत्यन्तर करता है
इसलिये आत्मा इन्द्रिय नहीं है । किन्तु भिन्न ही है ।

वास्तविक में तो आत्मा नित्य है किन्तु कर्म के संबन्ध से जन्म
मरणादि होने की अपेक्षा से अनित्य माना जाता है । जैनशास्त्रकार
द्रव्यमात्र को उत्पाद स्थिति व्ययात्मक मानते हैं । आत्मा भी एक

सच्चिदानन्दमय द्रव्य है वह भी स्थिति उत्पाद व्यय शब्द का भागी होता है। स्थिति कहने से द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अच्छेदी, अभेदी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध आत्मा है। उत्पाद, व्यय, जन्म मरणादि को लेकर आत्मा में पर्यायार्थिकनय स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि उनका अन्योन्य कार्यकारणभाव है। यही अनादि काल का व्यवहार चित्त में रखकर तत्त्ववेत्ताओं ने आत्मा को ज्ञाता, द्रष्टा, भोक्ता, कर्ता और कायपरिमाण माना है किन्तु वास्तविक में उसमें कायपरिमाणत्व भी नहीं है क्योंकि वह तो अरूपी पदार्थ है। और परिमाण तो रूपी पदार्थ में ही होता है। आकाश में यह परिमाण जो माना जाता है वह वास्तविक नहीं है किन्तु औपचारिक है। वैसे ही आत्मा का परिमाण नहीं है किन्तु कर्मरूप शृङ्खला से बँधे हुए शरीर का संबन्धी होने से शरीरी कहा जाता है। याने कायपरिमाण जो माना हुआ है सो युक्तियुक्त है। व्यापक परिमाण मानने से अनेक आपत्तियाँ आती हैं, क्योंकि व्यापक परिमाण मानने से घटपट के नाश के समय आत्मा को व्यापक होने से दुःख [illegible] होना चाहिये किन्तु होता नहीं है। इसका उत्तर यही है कि ज्ञान होने का नियम शरीर मानना 'शरीरावच्छेदेन ज्ञानमुत्पद्यते' ऐसा मानने से भी ठीक नहीं होता है। क्योंकि मोक्षावस्था में शरीर नहीं है इस लिये ज्ञान नहीं होना चाहिये। और मृतावस्था में शरीर के रहने पर ज्ञान होना चाहिये। इसके उत्तर में कदाचित् यह कहा जाय कि मृतावस्था में आत्मा नहीं है वाह! व्यापक परिमाणवाला आत्मा जब सर्वत्र है तब मृत शरीर में क्यों न हो। मोक्षावस्था में ज्ञान है या नहीं है? ऐसा यह शंका हुई है। वाह! क्या कर्मों को छोड़ कर मुक्तिगामी होकर अनन्त के भागी होते हैं, मुक्ति में आनन्दित [illegible] [illegible] और मृतात्मा का भेद क्या होगा ?, इत्यादि अनेक आपत्तियाँ आत्मा के व्यापक मानने में आती हैं। अतएव औपचारिक [illegible] [illegible] आत्मा के

दुःखी या क्रोधी अथवा प्राणमुक्त करने से हिंसा होती है । उस… का त्याग रूप अहिंसा धर्म संपूर्ण प्राणियों को सुखावह है ।

बहुत से लोग तो केवल शब्दशास्त्र को ही पढ़कर अपने… बड़ा पण्डित मानते हैं, उनसे कोई जिज्ञासु पुरुष पूछे कि- हे… राज ! जैनधर्म कैसा है ? तो उसके उत्तर देने के लिये और अ… पाण्डित्य की रक्षा करने के लिये तथा संसार समुद्र की वृद्धि क… के लिये जैनधर्म का स्वरूप न जानकर कहते है कि ईश्वर को जै… लोग नहीं मानते हैं, और आत्मा को अनित्य मानते हैं, तथा श्राद्धा… दि कृत्यों को भी ये लोग मिथ्या मानते हैं । इत्यादि अपने मन क… जवाब देकर जिज्ञासु मनुष्यको उसकी कल्याणेच्छा से अलग रखनेका… देते हैं । ऐसी उनलोगों कि बनावटें अब भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती हैं ।

पाठक महाशय ! जहां तक जैनशास्त्र नहीं देखा जायगा और… पक्षपात रूप चश्मा नहीं हटाया जायगा वहां तक पंडितों… की विडम्बना छूटती है; जिनोंने रागद्वेषादि अठारह दूषण रहित, ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय, शुद्ध, बुद्ध निरंजन ईश्वरत्व देव, जो कि अर्हन् अरिहन्तादि शब्दों से प्रसिद्ध हैं उन्हीं को ईश्वर माना है । आत्मा के स्वरूप में जैन शास्त्रकारों ने जो मान्य की है वह दूसरे दर्शनों में कहीं भी देखने में नहीं आती है । जैसे कि नित्य नित्य का स्वरूप जो पक्षपातरहित देखा जाय तो अवश्य ही स्प… स्वपक्ष बुद्धिमानों से [illegible] से देखा जायगा ।

आत्मा [illegible] से नित्य है किन्तु [illegible]

[illegible]

प्रीतिं याति न पिण्डकेन, तदिदं प्रत्यक्षमालोक्यते।
जातः क्वाप्यपरीक्षविग्रह किल यो, विप्रान्नभोक्ता मनुं
मुग्धैः श्वेव स तर्प्यते प्रियजनः पिण्डेन कोऽयं नयः"॥१॥

भावार्थ-एक स्थान में रहनेवाला हो तथा जीता भी हो तो भी वह मित्र के दिये हुए कल्पित अन्न से तृप्ति को प्राप्त नहीं होता है। यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है, अर्थात् स्वयं भोजन करने से ही तृप्ति होती है। मृत्यु पाकरके कहीं पर उत्पन्न भये हुए तथा परोक्ष शरीर को धारण करनेवाले प्रियजन अर्थात् माता पितादि कुत्ते की माफिक मूर्ख लोगों से भोजन कराकरके तृप्त किये जाते हैं। यह कौनसा न्याय है!। दूसरी बात यह है कि मांस बिना श्राद्धक्रिया ठीक नहीं होती है वैसीही कल्पित युक्तियाँ देकरके ब्राह्मणों की मांसद्वारा तृप्ति की जाती है। किन्तु ऐसे श्राद्ध करने की सम्मति कौन धर्मप्रिय देगा!। एक दफे ऐसा हुआ था कि पिताके श्राद्ध के रोज पुत्र ने एक भैंसा खरीदा, जोकि पिता का जीव था, उसको मारकर उसने श्राद्ध किया और ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया उसके बाद खुद जब भोजन करने बैठा, तब एक ज्ञानी महात्मा भिक्षा के निमित्त वहाँ गये किन्तु महात्मा जी भिक्षा न लेकर ही चले गये, इससे वह श्राद्ध करनेवाला मुनि जी के पीछे चला और पैरपर पड़कर बोला कि हे पूज्यवर्य! मेरे घर पर आप पधार कर भी बिना भिक्षा लिये ही क्यों चले आये!। मुनि ने शान्त स्वभाव से तब जवाब दिया कि जहां मांसाहार होता हो वहां से भिक्षा लेनेका मुनियों का आचार नहीं है। मुझे तुम्हारे घर में आने से वैराग्य की वृद्धि हुई है। तब उसने कहा कि मेरे घर जाने से आपकी वैराग्य वृद्धि का क्या कारण है सो कृपाकरके कहिये। उसके उत्तर में मुनि ने उपकारबुद्धि से कहा कि जिसका श्राद्ध तुमने किया है उसी का जीव जो महिष था उसे तुमने मारा है। और जो कुत्ती मांसमिश्रित हड्डी को खाती है वह तेरी माता है, जिसको तूँ गोद में बैठा कर मांसयुक्त कवल देता है वही तेरा

इस सूचना मे मेरे हस्ताक्षर देखने मे आते है।